Approved by High School and Intermediate Board U. P. as Text Book in Hindi for Inter classes.

हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ

सम्पादक

पं० गणेश पांडेय

प्रकाशक

आधुनिक प्रकाशन गृह

८४६ दारागंज, इलाहाबाद

तेरहवाँ संस्करण] १९६६ [मूल्य १.३७ पै०

भूमिका

कहानी कला का विकास

मनुष्यों में कहानी कहने-सुनने की प्रवृत्ति पाई जाती है। मानव शिशु कितने चाव से कहानी सुनता है? रिचार्ड बर्टन (Richard Burton) लिखते हैं कि "कहानी दुनिया की सबसे पुरानी वस्तु है, इसलिए आश्चर्य नहीं इसका प्रारम्भ उसी समय हो गया हो जब मनुष्य ने घुटनों के बल चलना सीखा था।"

आदि काल में मनुष्य गुफाओं में रहते थे। आखेट उनका जीवन था। तत्पश्चात् कृषि का आविष्कार हुआ। खेतों के चारों ओर छोटे-छोटे गाँव बसे। साथ रहने से मानव-समाज का निर्माण हुआ। उसे अपनी बीती कहने-सुनने का अधिक अवसर प्राप्त हुआ। फलस्वरूप कथा का विशिष्ट रूप से विकास प्रारम्भ हुआ। जाड़ों में आग तापते हुए वृद्ध लोग जंगली पशुओं की अथवा अन्य कोई मनोरंजक कहानी उत्सुक श्रोताओं को सुनाने लगे। मनुष्य की बुद्धि का अधिक विकास होने पर किंवदन्तियों के आधार पर लोगों में कथाएँ प्रचलित हुई। यात्रा, साहस-कार्य, छल-प्रपञ्च तथा जादू-टोने की कथाओं का चलन हुआ। जादू का खड़ाऊँ, उड़न खटोला आदि कहानियों की रचना इसी काल में हुई। धीरे-धीरे विकसित होते-होते कहानी ने अपना आधुनिक रूप ग्रहण किया।

साहित्य में कहानी का इतिहास, साहित्य के समान ही प्राचीन माना जा सकता है, क्योंकि कहानी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में साहित्य के प्रत्येक अंग में विद्यमान रहती है। यद्यपि कहानी का आधुनिक रूप प्राचीन साहित्य में कहीं नहीं पाया जाता तो भी कहानी का एक प्रमुख तत्व 'कथानक' महा-काव्य, खण्ड काव्य, इतिहास, पुराण आदि में सर्वत्र विद्यमान है। वेदों में भी कथा-कहानियों की अवस्थिति है, यद्यपि उनका ध्येय सदुपदेश तथा धार्मिक भावना प्रदान करना ही है।

कथा-साहित्य संस्कृत साहित्य में उपेक्षित नहीं था। कहानी के लिए संस्कृत में दो शब्द प्रायः प्रचलित थे—'कथा' और 'आख्यायिका'। कथा कल्पना-प्रसूत होती थी और आख्यायिका ऐतिहासिक घटना के आधार पर रची जाती थी। 'कथा' के उदाहरण पुराणों में वर्णित अनेक कथाएँ हैं। बाणभट्ट की रचना 'कादम्बरी' कलात्मक 'कथा' है। 'आख्यायिका' का उदाहरण 'हर्ष-चरित्र' है।

संस्कृत भाषा का एक अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ 'वृहत्कथा' है, जिसका अधिकांश भाग अप्राप्य है। इसके रचयिता गुणाढ्य पंडित थे। इस ग्रन्थ की मौलिक रचना गुणाढ्य पंडित ने पैशाची प्राकृत में की थी। उसके सातों भागों में से केवल एक भाग की रक्षा हो सकी है और उसका ही संस्कृत अनुवाद 'वृहत्कथा' के रूप में अवशिष्ट रह गया है। बुद्धि स्वामी के 'वृहत्कथा श्लोक संग्रह' क्षेमेन्द्र की 'वृहत्कथा मञ्जरी' तथा सोमदेव के 'कथा सरित् सागर' में 'वृहत्कथा' की कहानियाँ ही संग्रहीत हुई हैं। 'वृहत्कथा' प्रारम्भ से ही लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है और उसका अनुवाद अंग्रेजी, जर्मन आदि अनेक विदेशी भाषाओं में हो चुका है।

'वासवदत्ता', 'बाणभट्ट' की 'कादम्बरी, और दण्डी का 'दशकुमार-चरित' भी उत्कृष्ट कृतियाँ हैं। इनके कथा-पक्ष अधिक परिष्कृत, अलंकृत और विकसित हैं। इनके अतिरिक्त 'वैतालपंचविंशतिका' (वैताल पच्चीसी) 'सिंहासन द्वात्रिंशिका' (सिंहासन बत्तीसी) 'शुक सप्तति' आदि कहानी संग्रह भी लोकप्रिय कहानी-साहित्य के उदाहरण हैं। संस्कृत के 'पंचतंत्र' और 'हितोपदेश' की कहानियों से तो सभी परिचित हैं। 'पंचतंत्र' का अनुवाद पहले फारसी में हुआ और फिर इस अनुवाद से सीरिया की भाषा में और इसके अरबी अनुवाद 'कलेला दमेना' से अँगरेजी भाषा में अनुवाद हुआ है।

बौद्धों की 'जातक कथाएँ' विश्व-साहित्य की अंग हैं। श्री ईशानघोष का कथन है कि इनकी छाप मध्य-एशिया की समस्त जातियों की कथा कहानियों पर है। जैन-कथाओं का अनूठा संग्रह 'नन्दी रूप' में मिलता है। 'दश-कुमार चरित' भी अपने ढङ्ग का अच्छा संकलन है।

संस्कृत के चम्पू काव्यों में भी कहानी के अनेक तत्व मिलते हैं। ईसा की

दशवीं शताब्दी में त्रिविक्रम भट्ट ने 'मदालसा चम्पू' और 'दमयन्ती की कथा' की रचना की। राजा भोज की रचना 'रामायण चम्पू' और सोमेश्वर कृत 'यशः तिलक' संस्कृत में प्रसिद्ध चम्पू काव्य माने जाते हैं।

संस्कृत की इन रचनाओं में कौतूहल उत्पन्न करने के लिए अथवा नीति का प्रतिपादन करने के लिए अलौकिक घटनाओं का उल्लेख कर दिया गया है। उन कथाओं में वर्णनात्मकता के लिए अधिक और चरित्र-चित्रण के लिए कम स्थान है। लेखकों का ध्येय किसी आदर्श की स्थापना करना ही है।

इन कथाओं, आख्यायिकाओं और कथा-काव्यों के अतिरिक्त चारण काव्यों की गणना भी कथा साहित्य में हो सकती है। इन काव्यों में चारणों द्वारा कुछ राजवंशों का वर्णन मिलता है। चारण-काव्य ऐतिहासिक कथाओं के रूप में मिलते हैं और वे प्रायः पद्यबद्ध हैं। गद्य में उस समय किसी प्रकार का कथानक प्रस्तुत नहीं हुआ। परन्तु संवत् १६२५ में 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' और 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' नामक ग्रन्थों की रचना हुई, जिनमें वैष्णव भक्तों की कथा-वार्ताएँ हैं जो गद्य में हैं।

अँग्रेजों के आने के बाद और अँगरेजी साहित्य से परिचित होने पर यूरोप की मासिक पत्रिकाओं में जैसी छोटी-छोटी कहानियाँ निकला करती हैं, वैसी ही कहानियों की रचना 'गल्प' के नाम से वंग-भाषा में भी प्रारम्भ हुईं। एक शताब्दी पहले यूरोप में भी जीवन की समस्याओं, मनोविज्ञान तथा भाव-चित्रण की ओर लोग अधिक ध्यान नहीं देते थे। उन दिनों दार्शनिक, ऐतिहातिक तथा सामाजिक उपन्यास ही अधिक लिखे जाते थे। परन्तु धीरे-धीरे बालजाक, मोंपासा, चेखव, टालस्टाय, मैक्सिम गोर्की आदि ने वहाँ के कथा-साहित्य में परिवर्तन किये। आधुनिक कहानियों को नया रूप देने का सारा श्रेय इन्हीं कलाकारों को है। भारत में पहिले धार्मिक, ऐतिहासिक, भूतप्रेत, जादू-टोना आदि से सम्बन्धित कथाओं का प्राबल्य हुआ। कालांतर में यूरोप के कथा-साहित्य का प्रभाव भारतीय कथाओं पर पड़ा और आज की कहानी पर उनकी छाप स्पष्ट है।

आधुनिक कहानी का ध्येय मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण और जीवन का स्वाभाविक एवं यथार्थ चित्रण करना है। उसमें कल्पना की मात्रा कम और

अनुभूतियों की मात्रा अधिक होती है। अधिकतर तो अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरञ्जित होकर कहानी बन जाती हैं।

इन्शा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' जो सम्वत् १८६४ में प्रकाशित हुई थी, हिन्दी गद्य में सर्वप्रथम कहानी मानी जाती है। यद्यपि किसी किसी का मत है कि जटमल कृत 'गोरा-बादल की कथा' जो सम्वत् १६५० में लिखी गई थी, 'हिन्दी की प्रथम कहानी' मानी जानी चाहिए, किन्तु वह ऐतिहासिक कहानी है। 'रानी केतकी की कहानी' कहानी के उद्देश्य से गद्य के स्वरूप को लक्ष्य बनाकर लिखी गई है। वह एक प्रेम-कहानी है और उसमें मनुष्य का हरिणी में परिणत होना, मत्स्येन्द्रनाथ तथा इन्द्र आदि का समावेश अलौकिक वातावरण का सृजन करते हैं। इनके द्वारा कौतूहल की सृष्टि करना कहानीकार का लक्ष्य मालूम होता है। यद्यपि 'रानी केतकी की कहानी' में लेखक ने शुद्ध हिन्दी-गद्य का स्वरूप दिखलाने का प्रयत्न किया है, लेकिन फिर भी उसमें विशेष साहित्यिक सौन्दर्य की सृष्टि नहीं हो पाई है। अलौकिक घटनाओं के द्वारा धर्म और नीति का प्रतिपादन किया गया है। उस समय हिन्दी-गद्य का स्वरूप निर्धारित नहीं हो पाया था, अतएव कहानी की भाषा भी अनियमित ही है। लगभग उसी समय लल्लू जी लाल ने 'राजनीति' (हितोपदेश) और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' लिखे, किन्तु ये संस्कृत से अनूदित रचनाएँ हैं, मौलिक नहीं। इनका महत्व केवल भाषा के स्वरूप की दृष्टि से ही है।

इसके पश्चात्, १९वीं शताब्दी के मध्य तक, पौराणिक तथा धार्मिक कथाओं का अनुवाद ही होता रहा। सम्वत् १९१२ में राजा शिवप्रसाद सिंह 'सितारे हिन्द' ने 'राजा भोज का सपना' नामक कहानी लिखी। इसका आधार कल्पना ही है, किन्तु उसमें पूर्ण मौलिकता है और यद्यपि उसमें कोई विशेष कथानक नहीं है और न चरित्र-चित्रण ही है, तथापि वह एक कहानी के रूप में है। सम्वत् १९१४ में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' नामक कहानी लिखी, जिसमें एक ऐसी पाठशाला खोलने का विचार किया गया है, जिसकी नियमावली विचित्र है। उदाहरणार्थ-पाठशाला कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष में बन्द रहेगी; पढ़ाई न प्रकाश में होगी न अन्धकार

में। इस प्रकार उसमें हास्यरस का पुट दिया गया है। सम्वत् १६३४ में श्रद्धाराम फुल्लौरी ने 'भाग्यवती' तथा सम्वत् १६३५ में बालकृष्ण भट्ट ने 'सौ अजान और एक सुजान' नाम की एक लम्बी कहानी लिखी, जिसे एक छोटा उपन्यास भी कहा जा सकता है। सम्वत् १६४१ में श्री श्रीनिवासदास ने 'परीक्षा-गुरु' नामक उपन्यास की रचना की और उसमें एक व्यवसायी के जीवन के अनुभव दिखाये। इस ग्रन्थ में साहित्यिक पुट भी मिलता है और साथ ही कुछ पाश्चात्य प्रभाव भी दृष्टिगत होता है।

इन रचनाओं में भाषा का रूप कुछ सुधर गया है, परन्तु उपन्यास और कहानी का वस्तु-विन्यास विकसित नहीं हो पाया है; यद्यपि उसमें मनोविनोद और कौतूहल की सामग्री पर्याप्त है। समाज के आदर्श और नीति के प्रसंगों का भी समावेश उनमें मिलता है। इसके उपरान्त हिन्दी में बँगला के अनेक उपन्यासों का हिन्दी अनुवाद हुआ, उदाहरणार्थ राधाकृष्णदास ने 'स्वर्णलता', गदाधर सिंह ने 'बंगाल विजेता', कार्तिक प्रसाद खत्री ने 'इला' तथा रामकृष्ण वर्मा ने उर्दू से 'पुलिस वृत्तान्त माला' आदि अनेक बँगला उपन्यासों तथा कथाओं का परिचय हिन्दी-भाषियों को दिया। इनके फलस्वरूप हिन्दी के लेखकों को कथा-साहित्य की एक प्रणाली का परिचय हुआ।

इसी समय बाबू देवकीनन्दन खत्री और किशोरी लाल गोस्वामी ने हिन्दी में कुछ मौलिक उपन्यास प्रस्तुत किये। इनमें प्रकृति के चित्रण, वर्णन वैचित्र्य, ऐतिहासिक सौन्दर्य, चरित्र-चित्रण के अनेक दृष्टान्त मिल जाते हैं। इस प्रकार सन् १६०० के पूर्व हिन्दी के गद्य का रूप कुछ परिष्कृत और स्थिर हो गया। समाचार-पत्रों की बाढ़ से इस रूप की स्थिरता को गति मिली। समाचार-पत्रों ने हिन्दी के कहानी-साहित्य को भी प्रोत्साहन दिया। इस प्रकार सन् १६०० ई० के पूर्व हिन्दी के कहानी-साहित्य की पृष्ठ-भूमि प्रस्तुत हो गई।

परन्तु सन् १६०० ई० के पूर्व एक प्रकार से कोई भी साहित्यिक कहानी नहीं लिखी गई। 'रानी केतकी की कहानी' में साहित्यिकता नहीं है। केवल धार्मिक उपदेश, अलौकिक घटनाओं के साथ वर्णित हैं। इस प्रकार उसमें कोई साहित्यिक आदर्श नहीं आ सका है। अतएव हिन्दी में कहानी-साहित्य का वास्तविक आरम्भ बङ्ग भाषा में लिखित कहानियों के आधार पर या उनके

अनुवाद के रूप में हुआ, ऐसा मान सकते हैं। सन् १९०० ई० में प्रयाग से हिन्दी की प्रसिद्ध साहित्यिक मासिक-पत्रिका 'सरस्वती' का प्रकाशन आरम्भ हुआ। सरस्वती के प्रथम वर्ष में ही इसमें किशोरी लाल गोस्वामी की एक मौलिक कहानी 'इन्दुमती' प्रकाशित हुई। यही हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी कही जा सकती है। इसके दो वर्ष पश्चात् मास्टर भगवान दास (मिर्जापुर) की 'चुड़ैल,' सन् १९०३ में पं० रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' तथा गिरजादत्त वाजपेयी की 'पंडित और पंडितानी' नामक कहानियाँ प्रकाशित हुईं। सन् १९०७ में मिर्जापुर निवासिनी बंगमहिला की 'दुलाई वाली' एक सुन्दर कहानी भी उक्त पत्रिका में प्रकाशित हुई। इसके पश्चात् धीरे-धीरे नये लेखकों द्वारा मौलिक कहानियाँ लिखी जाने लगीं। परन्तु सन् १९११ ई० के पूर्व तक 'सरस्वती' में जिनकी कहानियाँ प्रकाशित हुईं, उनमें बँगला से अनूदित कहानी लिखने वालों में इंडियन प्रेस के मैनेजर बाबू गिरजाकुमार घोष ने (जो कहानी लेखक के रूप में अपना नाम लाला पार्वती नन्दन देते थे, मिर्जापुर निवासी बाबू पूर्णचन्द्र की धर्मपत्नी श्रीमती बंगमहिला ने और श्री प्रेमनाथ भट्टाचार्य ने स्तुत्य कार्य किया। इन्होंने बंगभाषा से अनेक सुन्दर कहानियों का हिन्दी रूपान्तर कर हिन्दी भाषा की प्रशंसनीय सेवा की।

सन् १९०९ ई० में स्वर्गीय जयशंकर 'प्रसाद' की प्रेरणा से उनके भांजे अम्बिका प्रसाद गुप्त ने काशी से 'इन्दु' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया। 'इन्दु' द्वारा 'प्रसाद' जी की प्रतिभा प्रकाश में आने लगी। सन् १९११ में 'प्रसाद' जी की सर्वप्रथम कहानी 'ग्राम' 'इन्दु' में प्रकाशित हुई; तदुपरान्त उसमें उनकी 'बिसाती', 'प्रतिध्वनि', 'स्वर्ग के खंडहर' इत्यादि अनेक कहानियाँ निकलीं। 'इन्दु' ही में हिन्दी के कुछ अन्य उत्कृष्ट कहानीकारों की कृतियाँ भी प्रथम बार प्रकाश में आईं। हास्यरस की कहानियाँ लिखने में सिद्धहस्त श्री जी० पी० श्रीवास्तव की प्रथम कहानी १९११ ई० में 'इन्दु' में ही छपी थी। १९१२ ई० में श्री विशम्भर नाथ जिज्जा ने 'परदेशी'-नामक उत्कृष्ट कहानी लिखी थी। सन् १९१३ ई० में 'इन्दु' द्वारा ही राजा राधिकारमण सिंह की अत्यन्त भावुकतापूर्ण तथा मँजी हुई कहानी 'कानों में कँगना'

प्रकाशित हुई, तत्पश्चात् उन्होंने 'बिजली' आदि अन्य सुन्दर कहानियाँ लिखीं। सन् १९१३ में विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक' की प्रथम कहानी 'रक्षाबन्धन' 'सरस्वती' में छपी। इसी वर्ष से श्री चतुरसेन शास्त्री भी कहानी लिखने लगे। उनकी प्रथम कहानी 'गृहलक्ष्मी' थी।

सन् १९१५ में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित हुई। यह हिन्दी की एक अद्वितीय कहानी है। अनेक विद्वान् इसे हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानी मानते हैं।

उपन्यास तथा कहानी-साहित्य में अद्वितीय ख्याति प्राप्त करने वाले प्रेमचन्द की प्रथम कहानी 'पंच परमेश्वर' १९१६ में 'सरस्वती' में छपी थी। उसके पूर्व प्रेमचन्द जी उर्दू में लिखते थे। सन् १९१६ का वर्ष हिन्दी के कहानी-साहित्य के लिए शुभ वर्ष समझा जाना चाहिये। प्रेमचन्द जी के आगमन से हिन्दी के उपन्यास तथा कहानी-साहित्य में बड़े वेग से नवयुग का आगमन हुआ और उनसे प्रभावित होकर हिन्दी में अनेक कहानी-लेखक अवतीर्ण हुए। प्रेमचन्द हिन्दी के एकमात्र प्रतिनिधि कहानी-लेखक हैं, जिनकी रचनाएँ विश्व के साहित्य में श्रेष्ठ स्थान पा सकी हैं। प्रेमचन्द ने नवीन लेखकों को राह दिखलाई, जिसके परिणाम-स्वरूप हिन्दी में कहानियों की एक बाढ़-सी आ गई और प्रत्येक पत्रिका में हिन्दी की अनेक प्रकार की मौलिक कहानियाँ प्रकाशित होने लगीं।

सन् १९१७ ई० से १९२० ई० के बीच रायकृष्णदास, बालकृष्ण शर्मा नवीन, गोविन्द वल्लभ पंत, हृदयेश तथा सुदर्शन आदि अनेक प्रसिद्ध कहानी लेखकों ने हिन्दी में लिखना प्रारम्भ कर दिया। स्वर्गीय चण्डी प्रसाद 'हृदयेश' एक नवीन शैली लेकर हिन्दी के कहानी क्षेत्र में अवतीर्ण हुए थे, पर उनकी असामयिक मृत्यु हो गई। सन् १९२० में श्री सुदर्शन भी हिन्दी में कहानी लिखने लगे। इसके पूर्व वे उर्दू में रचना किया करते थे। सन् १९२२ ई० में पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने कहानियाँ लिखनी आरम्भ कीं। उनकी भाषा सुन्दर तथा शैली गतिशील थी, जिससे उनकी कहानियों ने शीघ्र ही हिन्दी-साहित्य में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया।

सन् १९२८ में जैनेन्द्र ने अपनी कहानियों से हिन्दी के पाठकों को बहुत

प्रभावित किया। प्रसाद और प्रेमचन्द के बाद जैनेन्द्र ने पहली बार नये भाव के साथ-साथ हिन्दी को नई भाषा दी। खेल, फाँसी आदि के लेखक ने पुरानी भाषा के बन्धन को तोड़कर अपनी शैली की गति के लिए एक नई भाषा भी गढ़ने का प्रयास किया, जिसका प्रभाव उनके बाद वाले लेखकों पर भी पड़ा। जैनेन्द्र में आज दार्शनिकता प्रधान हो गई है, अतएव उनकी कहानियों में वह रोचकता और माधुर्य नहीं रह गया है, जो उनकी पहली रचनाओं में था।

सन् १९२८ के बाद हिन्दी में सैकड़ों मौलिक कहानी लेखक हुये, जिनकी साहित्यिक रचनाएँ पत्रों में छपती रहती हैं, इनमें सर्वश्री अज्ञेय, भगवती प्रसाद वाजपेयी, इलाचन्द्र जोशी, वीरेश्वर, अश्क, वनमाली, राधाकृष्ण, भारतीय, पहाड़ी, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, यशपाल, मोहनसिंह सेंगर, रांगेय राघव आदि प्रमुख हैं।

श्री अज्ञेय प्रतिभावान कलाकार हैं। विद्रोह की नींव पर उनके कथा-साहित्य का निर्माण हुआ है। आपने नवीन पाश्चात्य शैली को अपनाया है।

श्री यशपाल ने भी शीघ्रता से कहानी साहित्य में अपना स्थान बना लिया है। उनका-सा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा सरल भाषा-प्रवाह हमें अन्य नये लेखकों में कम मिलता है। वे हिन्दी के प्रगतिशील युग के कहानीकार हैं।

श्री सुमित्रानन्दन पंत, श्रीमती महादेवी वर्मा, श्री सियाराम शरण गुप्त, श्री भगवती चरण वर्मा आदि नई धारा के कवियों ने भी कुछ उत्कृष्ट कहानियाँ लिखी हैं। इनमें श्री निराला, भगवती चरण वर्मा तथा श्रीमती महादेवी वर्मा को पर्याप्त सफलता मिली है।

कुछ कहानी लेखिकाओं ने अपनी रचनाओं से हिन्दी को सम्पन्न बनाया है। श्रीमती शिवरानी प्रेमचन्द, उषा देवी मित्रा सत्यवती मल्लिक, कमला देवी चौधरी, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा, होमवती देवी आदि ने हिन्दी-साहित्य को सुन्दर कहानियाँ दी हैं।

हिन्दी में हास्यरस की कहानियों का एक प्रकार से अभाव है। सर्व श्री

अन्नपूर्णानन्द वर्मा, कृष्णदेव प्रसाद गौड़, अमृत लाल नागर आदि ने शिष्ट हास्य-रस की सुन्दर कहानियाँ लिखी हैं ।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में जब कि विश्व-साहित्य में श्रेष्ठ मौलिक कहानियों की रचना हो चुकी थी, लोगों की धारणा थी कि हिन्दी काहनियाँ अन्य देशों की तुलना में निम्न हैं । लेकिन आज हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि हिन्दी में ऐसी अनेक सुन्दर मौलिक कहानियाँ हैं, जो विश्व के कहानी-साहित्य में श्रेष्ठ स्थान पाने योग्य हैं ।

आज कहानी जीवन तथा सामाजिक संघर्ष को व्यक्त करने का सबसे शक्ति-शाली अस्त्र बन गई है । इस गद्य के युग में इसका साहित्य में प्रमुख स्थान है । हिन्दी-साहित्य में बहुत से कहानी लेखक अपनी सुन्दर मौलिक रचनाओं का निर्माण कर उसका भण्डार भर रहे हैं ।

उपन्यास और कहानी

कला की दृष्टि से उपन्यास और कहानी में अन्तर है और यह अन्तर केवल आकार का ही नहीं प्रकार का भी है। उपन्यास में जीवन की समस्याओं का व्याख्यान और उसका समाधान मिलता है। कहानी में यह बात नहीं पाई जाती है । कहानी एक प्रश्न ही उठाती है, किन्तु उसका उत्तर पूर्ण रूप से नहीं देती है । व्याख्यान उपन्यास का प्राण है। "संकेत (Suggestion) और गूँज (Echo) कहानी का जीवन है ।" "उपन्यास को आप नक्षत्र-खचित आकाश कहें तो कहानी को सप्त रङ्गी इन्द्र धनुषी मान लें । अकस्मात् रहस्यपूर्ण क्षितिज के एक कोने से रङ्गों की रागिनी उठती है और देखते-देखते नयनाभिराम होकर अछोर फैल जाती है और फिर देखते-देखते न जाने कहाँ विलीन हो जाती है, पर बहुत देर के लिए आँखों में और मन में एक कसक और गूँज छोड़ जाती है ।" व्याख्या-प्रधान होने के कारण उपन्यास में कथानक का होना सर्वथा आवश्यक है, किन्तु कहानी में कथानक का महत्व उतना अधिक नहीं रह जाता । कहानी में कहानी-लेखक किसी भाव का चित्रण इतनी विशदता से कर सकता है कि उसमें कथानक गौण रूप धारण कर ले ।

उपन्यास में एक से अधिक पात्रों का अनेक परिस्थितियों में चित्रण हो

सकता है। एक ही पात्र के जीवन की अनेक परिस्थितियों का घात-प्रतिघात दिखाया जा सकता है। प्रायः नायक तथा प्रतिनायक के जीवन का सर्वाङ्ग चित्रण उपन्यास में मिल जाता है, किन्तु कहानी में जीवन का सर्वाङ्ग चित्रण नहीं मिलता। उसमें चरित्र के अंग या अंश का चित्रण रहता है और वह भी किसी विशेष दृष्टि-कोण से। कहानी में केवल एक भाव की परिस्थितियों का अथवा एक परिस्थिति में पात्र के जीवन का चित्रण ही उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थं 'आकाशदीप' नामक कहानी में प्रेमभाव की कुछ परिस्थितियों का चित्रण है। प्रेमी और प्रेमिका के संपूर्ण जीवन का इतिहास नहीं है। उपन्यास सांगोपांग जीवन का सम्पूर्ण विशद और व्यापक दर्शन है, परन्तु कहानी जीवन की एक झाँकी मात्र है—मार्मिक एवम् व्यंजनापूर्ण (Suggestive) झाँकी—ऐसी झाँकी जो हृदय को झकझोर देती, मथ देती और हिला देती है।

उपन्यास का आकार 'कहानी' की अपेक्षा बड़ा होता है, क्योंकि उसमें जीवन की व्याख्या अनेक दृष्टिकोण से की जाती है। यद्यपि कहानी में भी एक भाव की अनेक परिस्थितियों का विस्तृत वर्णन करने से उसका कलेवर बढ़ सकता है तो भी कहानी बहुत बड़ी नहीं होती। कहानी कितनी बड़ी हो, कितनी देर में पढ़ ली जाय इस दृष्टि से कोई कहानी की सीमा १५ मिनट निर्धारित करते है और कोई ३० मिनट। अब तो दो-दो, तीन-तीन, चार-चार मिनट में पढ़ी जाने वाली कहानियाँ भी लिखी जाती हैं। कहानी के ऊपर पढ़ने का समय तथा कहानी में कितने शब्द आए हैं, कभी-कभी यह भी लिख दिया जाता है, किन्तु मिनटों और सेकंडों के माप से कहानी की सफलता निर्धारित करना उचित नहीं प्रतीत होता। बहुत सी सफल कहानियाँ तीन-चार पृष्ठों में ही अपनी अमिट छाप छोड़ जाती हैं और कुछ कहानियाँ २०-२५ पृष्ठ में समाप्त होती हुई भी पाठक की रुचि पर इतना नियंत्रण रखती हैं कि वह ऊबता नहीं है। वास्तव में कहानी का विस्तार कहानीकार की उद्देश्य-पूर्ति तथा उसकी कला पर निर्भर है। किन्तु यह सत्य है कि जितनी ही छोटी कहानी हो और जितना ही अधिक उसका प्रभाव हो उतना ही अधिक उस कहानी की सफलता मानी जायगी। उपन्यास का कलेवर इतना बड़ा होता है

कि आज के व्यस्त जीवन में पाठक उसको आद्योपान्त पढ़ने का साहस नहीं करता है। कहानी का लघुरूप आज के व्यस्त जीवन में पाठक के लिए अधिक आकर्षक है। लेकिन कहानी के लघुत्व में न तो उसकी सफलता है और न उसके दीर्घत्व में उसकी असफलता। यदि कहानी अपने सौन्दर्य से पाठक को अधिक समय तक लुब्ध रख सकती है तो इसे कहानी का दोष नहीं गुण ही माना जाना चाहिए।

'उसने कहा था' एक कहानी है। लड़कपन में एक लड़का और लड़की चौक की दुकान पर मिलते हैं। दोनों अपने-अपने मामा के यहाँ अमृतसर में मेहमान हैं। लड़का पूछता है—"तेरी कुड़माई हो गई ?" इस पर लड़की 'धत्' कहकर भाग जाती है।

कुछ दिनों के बाद लड़की फिर दुकान पर मिलती है और कुड़माई की बात पूछे जाने पर रेशम से कढ़ा हुआ सालू दिखलाती है।

कई साल बीत जाते हैं। लड़का युवक होकर पल्टन में नौकर हो गया है। अपनी छुट्टी पूरी हो जाने पर फिर नौकरी पर जा रहा है। रास्ते में सूबेदार का गाँव पड़ता है। वह सूबेदार के घर पहुँचता है और उसके कहने पर दरवाजे पर जाकर 'मत्था टेकना' कहता है। सूबेदार की स्त्री उसे देखते ही प्रश्न करती है—"मुझे पहचाना ?"

"नहीं।"

"तेरी कुड़माई हो गई ?" "धत्।" सूबेदारनी ने स्मरण दिलाया, फिर चलते-चलते उसने भिक्षा माँगी "एक बेटा है। फौज में भरती हुए एक ही बरस हुआ है। उसके पीछे चार हुए, पर एक भी न बचा। पति-पुत्र दोनों लाम पर जा रहे हैं। उनकी रक्षा करना।"

और लहनासिंह उसके बेटे को बचाने के लिए अपने प्राण दे देता है।

यह कहानी यदि विस्तारपूर्वक लिखी जाती तो लहनासिंह का बचपन से मृत्यु तक का पूरा चरित्र-चित्रण और उससे सम्बन्धित घटनाएँ लिखी जातीं। यहाँ उपन्यास के लिए पर्याप्त सामग्री है, पर ऐसा नहीं हुआ है।

प्रेमचन्द का गोदान उपन्यास है। उसके नायक 'होरी' के चरित्र में जीवन के एक सूक्ष्म तत्व का मूर्तिमान चित्रण हुआ है। होरी के जीवन में

कठिनाइयाँ आती हैं, पग-पग पर रुकावटें पड़ती हैं। किसान वर्ग का वह प्रतीक पुरुष है। उसके माध्यम से उपन्यासकार ने किसान वर्ग का विशद चित्रण किया है। परन्तु काट-छाँट करने के बाद 'होरी' आसानी के एक कहानी के पात्र का रूप ग्रहण कर सकता है और 'गोदान' एक कहानी हो सकता है।

एकांकी नाटक और कहानी

'एकांकी नाटक' और कहानी में सामीप्य है। क्षिप्रता और लाघव दोनों ही के सामान्य गुण हैं। दोनों ही अपनी सफलता के लिए 'व्याख्या' का मार्ग त्याग कर 'संकेत' का मार्ग ग्रहण करते हैं। 'आकाशद्वीप' कहानी है। किन्तु 'टेकनिक' में थोड़ा परिवर्तन कर देने पर उसको एकांकी नाटक का रूप दिया जा सकता है। इससे मूल तत्व में कोई अन्तर न पड़ेगा। इसी तरह यदि कुछ कथनोपकथनों को वर्णन का रूप दे दिया जाय तो अधिकांश एकांकी नाटकों को बिना किसी कठिनाई के कहानी में परिणत किया जा सकता है।

नाटक, उपन्यास तथा महाकाव्यों में प्रस्तावना, संघर्ष, चरम-स्थिति आदि अंग मिलते हैं, किन्तु कहानी की संकुचित सीमा में, कथा की ये कृत्रिम परि-स्थितियाँ स्पष्ट नहीं हो पातीं। उसमें केवल संघर्ष और चरम-सीमा स्पष्ट दिखाई देते हैं। इस प्रकार कहानी का पूर्ण निर्वाह नाटक, उपन्यास आदि की अपेक्षा कठिन होता है और उसमें अत्यन्त सतर्कता से काम लेना पड़ता है तथा उसके लिए एक विशेष मनोवृत्ति की आवश्यकता होती है—ऐसी मनोवृत्ति जिसका आधार संयम और नियंत्रण है और 'अनावश्यक की विस्मृति' जिसका सहज गुण है। यही कारण है कि महान् उपन्यास लेखक तथा नाटककार उतने ही महान् कहानीकार नहीं हो पाते।

कहानी का कथानक :—एक या एक से अधिक पात्रों के अनुभवों तथा घटनाओं का क्रमिक अनुबन्धन ही कथानक है। कहानी-लेखक इस कथानक का विकास अपनी भावना तथा कल्पना के आधार पर करता है। कहानी-लेखक अपनी कला-शक्ति से एक साधारण कथा का विकास ऐसी सुन्दरता-

पूर्वक करता है कि पाठक जब तक कहानी समाप्त नहीं कर लेता रुकना नहीं चाहता।

कहानी का कथानक उसका मुख्य अंग है, क्योंकि कहानीकार की कल्पना पहिले कथानक का ही सृजन करती है और तब कथानक के सूत्र में यह पात्रों को पिरोती है तथा दृश्य-चित्रण, भाव-चित्रण और घटनाओं के चढ़ाव-उतार का एकत्र सम्बन्ध दिखाती है।

कथानक जीवन की घटनाओं की वह शृंङ्खला है जो जीवन की विवेचना करने में समर्थ होता है। अतएव कथा की सफलता कथानक के प्रयोग या उसके विकास पर ही निर्भर रहती है। कथानक में घटनाओं या भावों की शृङ्खला साधारण अथवा जटिल दो प्रकार की होती है। साधारण कथानक में एक ही घटना या परिस्थिति का चित्रण होता है और उसका प्रवाह किसी दूसरे उपकथानक द्वारा अवरुद्ध नहीं किया जाता। जटिल कथानक में एक से अधिक उपकथानकों का चित्रण होता है। कहानी में जटिल कथानक के लिए स्थान नहीं है। कहानी का कथानक छोटा और सरल होना चाहिए और खूब कसा हुआ। किसी पात्र के सम्पूर्ण जीवन के अनुभवों तथा घटनाओं का गुम्फन कहानी में नहीं हो सकता, अन्यथा वह उपन्यास की कोटि में जायगी।

कहानी की सरलता कथानक के विकास पर निर्भर करती है। कहानीकार कहानी की रोचकता का सहसा सूत्रपात्र कर कथानक के विकास के साथ-साथ उसका अन्त तक निर्वाह करता है। कहानी की रोचकता कथानक के विकास के साथ-साथ क्रमशः विकसित होनी चाहिये।

कथानक के विकास की पाँच स्थितियाँ होती हैं—प्रारम्भ, आरोह, चरम-स्थिति, अवरोह या पतन और अन्त।

कहानी का प्रारम्भ अनेक प्रकार से हो सकता है। वातावरण के वर्णन से, दो पात्रों के कथनोपकथन से अथवा पात्र परिचय से। किन्तु यह आवश्यक है कि कहानी का आरम्भ शुष्क न हो। कहानी के आरम्भ से ही पाठक की रुचि का प्रतिकूल हो जाना कहानी में शिथिलता की सूचना देता है। कहानी के

आरम्भ को रोचक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि वह आवश्यकता से अधिक लम्बा न हो जाय और उसमें कोई शुष्कता न आ जाय।

कहानी की दूसरी स्थिति आरोह की स्थिति है। इसमें पात्र की मानसिक अवस्था की किसी स्थिति या भावना का विकास दिखाया जाता है। पात्र की उत्सुकता का अंकुर जो आरम्भ में फूटता है, वह पुष्ट होकर आरोह की स्थिति की ओर विकसित होने लगता है। कहानी के अनेक संघर्षों और घात-प्रतिघातों के बीच चलता हुआ पात्र या भाव-विशेष उस चरम स्थिति में पहुँचता है, जो विकास की तीसरी अवस्था है और जहाँ कहानी को रोचकता अथवा सुन्दरता में क्षण भर के लिए स्तब्धता-सी आ जाती है और पाठक के हृदय में एक प्रकार के स्पन्दन का अनुभव होता है। दुःखान्त कहानियों में यह चरम सीमा प्रायः अन्त में आती है, क्योंकि यहीं पर कहानी की रोचकता चरमोत्कर्ष की स्थिति पर पहुँचती है।

कुछ कहानी लेखक तो कहानी की चरम स्थिति के साथ ही कहानी का अन्त दिखा देते हैं, क्योंकि रोचकता के चरमोत्कर्ष को दिखाने के पश्चात् उसमें अवरोह की स्थिति अर्थात् उपसंहार या अन्तिम परिस्थिति को दिखाना अनावश्यक-सा प्रतीत होता है, क्योंकि ऐसी दशा में पाठक शिथिलता का अनुभव करने लगता है और अवरोह कहानी के प्रभाव को नष्ट कर देता है। किन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पाठकों के हृदय में यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि इसके पश्चात् क्या हुआ होगा ? ऐसी जिज्ञासा या उत्सुकता का समाधान करने के लिये ही चरम-स्थिति के पश्चात् अवरोह तथा अन्त या उपसंहार की आवश्यकता पड़ती है।

किन्तु अधिकांश लेखकों की धारणा है कि अवरोह अथवा अन्त की परिस्थितियाँ पाठकों की कल्पना के लिये छोड़ देनी चाहिए। अतएव बहुत सी कहानियों में प्रायः केवल संघर्षपूर्ण आरोह और चरम-स्थिति का चित्रण ही रहता है।

कहानियों में भी नाटक आदि की भाँति आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम ये पाँच परिस्थितियाँ दिखाई जा सकती हैं, किन्तु ये सभी स्थितियाँ केवल ऐसी कहानियों में ही दिखाई जा सकती हैं, जहाँ

प्रमुख पात्र का एक उद्देश्य हो और उस उद्देश्य की प्राप्ति ही कहानी का लक्ष्य हो।

चरित्र-चित्रण—साहित्य में हम जीवन की व्याख्या पाते हैं। इस जीवन की व्याख्या के लिए कहानीकार, मानव-जाति के किसी कल्पित व्यक्ति (पात्र) को अपनी विवेचना का आधार बनाता है। उसके पात्रों का निर्माण उसकी कल्पना की सहायता से होता है, जिसके पीछे उसका व्यापक अनुभव और ज्ञान समाहित रहता है। जिस लेखक का जीवन सम्बन्धी ज्ञान अथवा अनुभव जितना ही सीमित तथा संकीर्ण होता है, उसके पात्र भी उतने ही अपूर्ण और अधूरे रह जाते हैं। इसके विपरीत जिस लेखक की अनुभूतियाँ गहरी होती हैं और अनुभव व्यापक होता है, उसके पात्र भी सजीव और सशक्त होते हैं। प्रेमचन्द के पात्र हमारे सामने इतने सजीव रूप में आते हैं कि हम उनकी वास्तविकता पर विश्वास करने लगते हैं। हम उनके दुःख से दुःखी और सुख से सुखी होते हैं। पाठकों के हृदय में इस प्रकार की सहानुभूति का संचार करना कहानी के सफल चरित्र-चित्रण का द्योतक है। साधारण कहानियाँ कुछ समय के बाद पाठक भूल जाते हैं, किन्तु जिनमें चरित्र-चित्रण की विशेषता रहती है, वे सदा के लिये पाठकों के मन पर प्रभाव जमा लेती हैं। अतएव चरित्र-निरूपण कहानी का महत्वपूर्ण अङ्ग है।

चरित्र का विकास सृष्टि की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अनुकूल होना चाहिए। इसलिये कहानी में मनोविज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। चरित्र-निरूपण का आधार यदि मनोवैज्ञानिक सत्य है तो पात्र वास्तविक, स्वाभाविक और सजीव होंगे। मोटी-मोटी बातों से ही पाठकों को सन्तोष नहीं होता। वह तो जीवन के किसी भी अंग का सूक्ष्म दिग्दर्शन चाहता है। कहानीकार जीवन का सूक्ष्म दिग्दर्शन अपने गम्भीर-चिन्तन और पर्यवेक्षण-शक्ति के द्वारा ही कर सकता है। विवेक मनोविज्ञान का आधार है और अन्तर्जगत के रहस्य का उद्घाटन उसका लक्ष्य। इन्हीं से चरित्र-चित्रण सजीव, सबल और सशक्त होता है।

किन्तु कहानी में पूर्ण जीवन का चित्रण सम्भव नहीं। पूर्ण जीवन तो उपन्यास अथवा नाटक और महाकाव्य में भी चित्रित नहीं किया जा सकता,

क्योंकि जीवन वहुत व्यापक और विशाल है। इसलिये जहाँ उपन्यास और नाटक में जीवन के अनेक चित्र प्रदर्शित होते हैं, कहानी में केवल एक अंग मात्र का परिमित दृष्टि-कोण से चित्रण रहता है। कहानी में यह चित्रण संक्षिप्त ही हो सकता है, विस्तृत नहीं। कहानी में विस्तार के साथ पात्र का चरित्र अंकित नहीं किया जा सकता। "संकेत' और 'व्यंजना' (Suggestion) ही कहानी के चरित्र-चित्रण के आधार होने चाहिये—व्याख्या नहीं। कहानी के सीमित क्षेत्र में व्याख्या की गुञ्जाइश ही नहीं है। व्याख्या कहानी के चरित्र-चित्रण की प्रभावोत्पादकता को नष्ट कर देती है। कहानीकार चरित्र पर प्रकाश डाले, लेकिन प्रकाश सम्पूर्ण शरीर पर न पड़े केवल मर्मस्थल पर पड़े और वह भी विजली के टार्च (तीव्र और केन्द्रित प्रकाश का प्रतीक) के द्वारा।"

कहानी के चरित्र निरूपण में चार वातें मुख्य हैं—वास्तविकता, स्वाभाविकता, आंशिकता और संक्षिप्तता।

आख्यायिका में चरित्र का प्राधान्य होना चाहिये, घटनाओं का नहीं। घटनाओं की शृङ्खलाओं को दिखा देने से जीवन की व्याख्या नहीं हो सकती। हाँ, जब पात्रों का संघर्ष घटनाओं से होता है तव घटनाएँ पात्र के जीवन की अन्तः-प्रवृत्तियों के विश्लेषण में सहायक होती हैं। अतएव घटना की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। पात्र और घटना का अन्योन्याश्रय सम्वन्ध है। एक ही घटना के घटित होने पर भिन्न-भिन्न पात्र अपने-अपने संस्कार, चरित्र-वल तथा क्रिया-शक्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं। कोई पात्र बाधाओं को देखकर घवड़ा जाता है और कोई अपने संकल्पों पर अधिक दृढ़ हो जाता है। चरित्र-प्रधान कहानियों का पद सदा से ऊँचा रहा है और उनका पाठक पर बहुत प्रभाव पड़ता है।

चरित्र-चित्रण ही वर्णनात्मक, संकेतात्मक, कथोपकथनात्मक, तथा घटनात्मक हो सकता है। सुन्दर भाषा चरित्र-चित्रण में बहुत सहायक होती है। कहीं-कहीं चरित्रों को स्वाभाविक वनाने के लिए 'बोलियों' का प्रयोग भी किया जाता है। जैसे, एक ग्रामीण देहाती भाषा बोलेगा, पंजाब वाला पंजाबी। यह नियम

अधिकतर किसानों, मजदूरों तथा निम्न वर्ग के अशिक्षितों या विशेष पात्र जैसे बङ्गाली आदि के सम्बन्ध में बरता जाता है।

प्राचीन कथा-साहित्य प्रायः नैतिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिये लिखा जाता था, अतएव उनमें किसी आदर्श की पुष्टि करना लेखक का ध्येय हो जाता था। आज यह बात नहीं है। आज समाज में विभिन्न समूहों के चरित्र-चित्रण वाली कहानियाँ लिखी जा रही हैं, जिनमें आर्थिक दासता और सामाजिक वैषम्य आदि का चित्रण होता है। उनमें व्यक्ति तथा समाज के प्रति एक तीव्र व्यंग भी हमें मिलता है। उनका लेखक मनुष्य की सामाजिक या मानसिक अवस्था का विश्लेषण कर, उसके जीवन की गहराई तक पहुँच, नये-नये प्रयोग कर रहा है, लेकिन उनका दृष्टिकोण सर्वथा बौद्धिक है।

शैली—कहानी कहने का अपना ढंग कहानीकार की शैली है। शैली सम्पूर्ण रचना—कथानक, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन और उद्देश्य—में व्याप्त है। जैसे शरीर से प्राण को अलग कर दिखा नहीं सकते, उसी प्रकार कलाकार की शैली उसकी कला से अलग कर नहीं दिखायी जा सकती। शैली कहानी के शब्द-शब्द में व्याप्त रहती है। शैली ही कहानीकार के स्वतन्त्र अस्तित्व और व्यक्तित्व का परिचय देती है। प्रेमचन्द की शैली ही उनकी कहानियों में बोल उठती है कि यह प्रेमचन्द की कहानी है।

कहानी लिखने की अनेक शैलियाँ प्रचलित हैं। प्राचीन कहानियाँ प्रायः इतिहास के समान वर्णनात्मक शैली में लिखी जाती थीं। जिस प्रकार कहानी सुनाने वाला किसी दूसरे की कहानी सुनाता है, उसी प्रकार इस शैली में कहानीकार भी मानो किसी अन्य व्यक्ति के विषय में आँखों देखी बातें सुनाता है। इनको हम "इतिहास-शैली" कह सकते हैं। इसकी विशेषता यह है कि इसमें लेखक स्वयं वर्णन करने और भावों को पूर्णतया स्पष्ट करने की स्वतन्त्रता रखता है। लेखक वस्तु-स्थिति का पूर्ण विवेचन कर, गवेषणापूर्वक कहानी को पाठकों के सम्मुख रखते हुये दुरूहता-पूर्ण स्थलों का स्पष्टीकरण भी सरलतापूर्वक करता जाता है। इस शैली में कथोपकथन के साथ कुछ अंश में अन्य शैलियों का भी प्रयोग हो सकता है। उदाहरणार्थ बीच में दो पात्रों के पत्र व्यवहार का प्रयोग तथा कुछ दूर तक एक पात्र द्वारा आत्मकहानी

के उल्लेख की गुञ्जाइश भी बनी रहती है। इस प्रकार शैली की व्यापकता के कारण इसमें विविधरूपता के लिये पूर्ण अवकाश रहता है और इसी कारण प्राय: अधिकांश कहानियों में लेखक इस शैली का प्रयोग करते हैं।

दूसरी आत्म-कहानी की शैली है, इसमें लेखक किसी पात्र के रूप में कहानी कहता है, मानो वह अपने व्यक्तिगत जीवन की कहानी सुनाता हो। उत्तम पुरुष में ही एक पात्र प्राय: सब कुछ कहता है। किन्तु ऐसी कहानियों में बीच-बीच में ऐसे प्रसंगों की अवतारणा हो जाती है जब कि दो पात्र परस्पर बातचीत करते हों अथवा उनके बीच का पत्र-व्यवहार होता हो। कथा कहने वाला पात्र भी स्वयं कुछ वर्णन कर सकता है। वस्तु-स्थिति की विवेचना जिस प्रकार वर्णनात्मक शैली में लेखक द्वारा हो सकती है, उस प्रकार आत्मकथा शैली में नहीं हो सकती, क्योंकि यहाँ तो लेखक एक पात्र के रूप में ही बात करता है। वह न तो दूसरे पात्रों का प्रतिनिधित्व ही ग्रहण कर सकता है और न उसके चरित्र पर ठीक प्रकाश ही डाल सकता है। आत्मकथा शैली में कहानी प्राय: भावुकतामय जीवन का चित्रण करती है।

तीसरी 'पत्र शैली' है। इसमें प्राय: सम्पूर्ण कहानी दो या अधिक पात्रों के पारस्परिक पत्र-व्यवहार द्वारा लिखी जाती है। पात्रों का अपना दृष्टिकोण पत्रों द्वारा स्पष्ट हो जाता है। कथानक का विकास भी एक पत्र से दूसरे पत्र द्वारा उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। इसमें सन्देह नहीं है कि पत्रों में एक प्रकार की सजीवता रहती है और उनमें भावों को भी स्पष्टतया व्यक्त किया जा सकता है, किन्तु जीवन की स्वाभाविकता को केवल पत्रों द्वारा ही व्यक्त करना कठिन है। दो की उपस्थिति में भावों के विकास में जो सरलता होती है, वह उनके दूर-दूर रहने पर सम्भव नहीं। इस शैली के अन्तर्गत मनोवैज्ञानिक चित्रण के अवसरों का भी अभाव रहता है। कथोपकथन की सजीवता इसमें दुर्लभ होती है तथा लेखक के द्वारा वस्तु-स्थिति की विवेचना जैसी वर्णनात्मक-शैली में हो सकती है, वैसी पत्र-शैली में नहीं हो सकती।

चौथी शैली है "डायरी शैली"। इसमें पात्र अपने दैनिक अनुभवों को आत्मकथा के रूप में लिखता है। पात्र के समस्त अनुभव उसकी डायरी में समाये रहते हैं। डायरी के कुछ पृष्ठ ही एक कहानी के रूप में हमारे

सामने आ जाते हैं। इस शैली में भी वही त्रुटि है, जो पत्र-शैली में अथवा आत्मकथा शैली में है, लेखक का विवेचक-रूप इसमें भी सहयोग नहीं दे सकता।

पाँचवीं शैली 'कथोपकथन' शैली है। इसमें पात्र पारस्परिक बातचीत द्वारा पूरी कहानी कह जाते हैं। यह नाटकीय शैली है। कथोपकथन कहानी का महत्व-पूर्ण अंग है। कथनोपकथन के द्वारा कहानी में सजीवता और रोचकता आती है। अपनी बातचीत से पात्र अपने चरित्र का परिचय स्वयं दे देते हैं। लेखक को उनके चरित्र के विषय में कहने की कुछ आवश्यकता नहीं रहती। कथोप-कथन की सबसे बड़ी विशेषता यही होनी चाहिये कि वह चरित्र-चित्रण में योग दे। ऐसा कथोपकथन जिससे कहानी का विकास न हो, निरर्थक होता है। व्यर्थ की बातचीत के लिये कहानी में कोई स्थान नहीं। कथोपकथन पात्र के अनुकूल हो। जैसा पात्र हो उसी प्रकार उनकी बातचीत हो, तभी कथोपकथन पात्र निरूपण में सहायक हो सकता है। उसका स्थान, समय तथा परिस्थिति के अनुकूल भी होना आवश्यक है। कथोपकथन की भाषा स्वाभाविक होनी चाहिये, ताकि वह पात्र का ठीक-ठीक परिचय दे सके। अपढ़ और अशिक्षित पात्र के मुँह से दुरूह और साहित्यिक भाषा का प्रयोग कथोपकथन की स्वाभाविकता में घातक सिद्ध होगा।

कहानी की भाषा—कहानी सरल-साहित्य है और उसका उद्देश्य मनोरंजन है, अतएव भाषा में सरलता और प्रसाद गुण का होना आवश्यक है। क्लिष्टता और दुरूहता से मनोरञ्जकता का गुण नष्ट हो जाता है। भाषा ऐसी होनी चाहिये जो सजीव लगे, जिसमें सफल चित्र खड़े करने का सामर्थ्य हो और जिसमें ओज और माधुर्य गुणों की अवस्थिति विषयानुकूल अथवा रचनानुकूल हो। इसी प्रकार उसमें व्यङ्ग और परिहास भी अवसर के अनुकूल व्यक्त होने चाहिये। मुहावरे भी भाषा को शक्तिशाली और सजीव बनाते हैं।

भाषा की दृष्टि से हिन्दी में प्रायः चार धाराएँ हैं। एक के प्रतिनिधि 'प्रसाद' जी हैं। उनकी भाषा को परिमार्जित भाषा कह सकते हैं। इस शैली में विदेशी शब्द तथा देशज या ग्रामीण शब्दों का यथासम्भव बहिष्कार किया

गया है। 'प्रसाद' की भाषा साहित्यिक तथा भावात्मक है। उनकी भाषा का प्रभाव अपने युग में कुछ लेखकों पर पड़ा है। कुछ लेखकों ने उस भाषा को अपनाकर प्रयोग भी किए हैं, किन्तु आज उसका प्रभाव नहीं के बराबर रह गया है।

दूसरी शैली के प्रतिनिधि लेखक प्रेमचन्द हैं। उन्होंने ऐसी सरल और सरस भाषा का प्रयोग किया है, जिसका प्रयोग प्रायः दैनिक व्यवहार में नागरिक और ग्रामीण करते हैं। उनके वर्णन हमारे सामने सजीव चित्र खड़े कर देते हैं। उर्दू शब्दों का भी प्रयोग करने में उन्होंने संकोच नहीं किया है। प्रेमचन्द जी की भाषा के सम्बन्ध में डा० रामविलास शर्मा का कथन है कि 'प्रेमचन्द ने किसानों की बातचीत में साधारण रूप से देहात के मुहावरों और शब्दों को अपनाया है, जब कि शहर के मुसलमान पात्र उर्दू बोलते हैं। उनकी भाषा जितनी सरल और चमत्कारपूर्ण है, उतनी ही वह जनता की भाषा में छिपे हुये वैचित्र्य और साहित्यिकता की गवाही देती है।'

प्रेमचन्द की भाषा हमारे जीवन की भाषा है। इसलिये प्रेमचन्द के सारे पात्र हमारे बीच के लगते हैं। प्रसाद जी के पात्रों की भाँति उनकी कल्पना नहीं करनी पड़ती। भाषा की दृष्टि से प्रेमचन्द तथा प्रसाद जी इन दोनों का ही नए कहानी लेखकों पर अधिक प्रभाव पड़ा है। प्रेमचन्द की भाषा का प्रभाव आधुनिक कहानियों की भाषा पर, उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है।

तीसरी शैली के प्रतिनिधि उग्र और चतुरसेन आदि कहानी-लेखक हैं, जिन्होंने लोचदार भड़कीली और लाक्षणिक भाषा का प्रयोग किया है। इनकी भाषा में एक विचित्र प्रवाह और गति होती है। उसमें मुहावरों का प्रचुर प्रयोग है। रामवृक्ष बेनीपुरी भी इसी प्रकार की भाषा लिखते हैं।

चौथी शैली के प्रतिनिधि जैनेन्द्र कहे जा सकते हैं। प्रारम्भ में उनकी भाषा ने पाठकों को मोह सा लिया था। उनका प्रभाव अनेक लेखकों पर पड़ा है।

आज की कहानियों के विषय में भाषा की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि आज के लेखक सीधी-सादी सरल भाषा का प्रयोग करने लगे हैं। अज्ञेय, यशपाल आदि लेखकों ने अपनी भाषा को सरल और रोचक बनाया है, फिर

भी भाषा के भविष्य के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। क़हानी की भाषा ऐसी होनी चाहिये जिसे सब समझ सकें, जिसके द्वारा पात्रों और उनकी भावनाओं का ठीक-ठीक चित्रण हो सके।

लेखक का दृष्टिकोण—कहानी लेखक का कहानी लिखने में अपना एक सिद्धान्त होता है। वह जीवन के प्रति अपने किसी विशेष दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करना चाहता है, परन्तु वह अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन कोरे उपदेश या दार्शनिक की मीमांसा के रूप में नहीं करता। कहानी के पीछे वह अदृश्य और अप्रत्यक्ष रूप से रहता है। अपनी कल्पना और भावुकता के आधार पर वह अपने पात्रों की सृष्टि करता है और इसी सृजन में उनकी जीवनी संबंधी व्यक्तिगत भावना अप्रत्यक्ष रूप से आभासित होती है। जीवन के सम्बन्ध में कोई दृष्टिकोण न होने से उनकी साहित्यिक रचना गम्भीर नहीं हो सकती। उसका अपना दृष्टिकोण ही इसकी मौलिकता हैं।

सिद्धान्त अथवा दृष्टिकोण की दृष्टि से आधुनिक कहानियाँ प्रायः दो भागों में विभाजित की जाती हैं। (१) आदर्शवादी कहानियाँ और (२) यथार्थवादी कहानियाँ।

आदर्शवादी कहानियों में लेखक किसी आदर्श की प्रतिष्ठा करता है। इन कहानियों में मानवीय दुर्बलताओं का चित्रण करने पर भी लेखक सदसत् के पारस्परिक संघर्ष द्वारा सत्य की ही अन्तिम विजय दिखाता है। घोर विपत्तियों का सफलतापूर्वक सामना करते हुये उसका पात्र आत्म-त्याग द्वारा एक आदर्श की प्रतिष्ठा करने में अपना गौरव समझता है। प्रेमचन्द आदर्श के उत्कृट कहानी-लेखक थे, यद्यपि वे कोरे आदर्शवादी नहीं थे। उनके लिए उपयुक्त शब्द है—"यथार्थोन्मुख आदर्शवादी"। उनके बुरे से बुरे पात्र भी प्रायश्चित्त की अग्नि में अपने जीवन की सिद्धि कर लेते हैं। उनका नारकीय-पात्र भी अन्त में सन्मार्ग की ओर उन्मुख होता है। प्रेमचन्द पर इस दृष्टि से प्राचीन भारतीय सिद्धान्त की छाप हैं।

इनके विपरीत दूसरा वर्ग जीवन का यथार्थ चित्रण करता है। मनोविज्ञान को अपना आधार बनाकर यह वर्ग जीवन का वास्तविक चित्र उपस्थित करना अपना ध्येय समझता है। इस वर्ग के लेखकों का विश्वास है कि जो सत्य

है, वह तो छिप नहीं सकता और न उनका छिपाना वांछित हैं। उनके मत में साहित्य का यदि जीवन से सम्बन्ध है तो उसमें जीवन का यथातथ्य चित्रण क्यों न किया जाय ? अतएव ऐसे कहानी-लेखक पापाचार पर पर्दा डालना न्यायपूर्ण नहीं समझते।

वास्तव में जीवन में पाप और पुण्य दोनों का मिश्रण है। कहानी-लेखक चाहे आदर्शवादी हो या यथार्थवादी उसका दृष्टिकोण जीवन को गतिशील बनाकर उन्नत मार्ग की ओर अग्रसर करना ही होना चाहिए।

विषय—विषय की दृष्टि से हिन्दी का कहानी-साहित्य अभी परिपूर्ण नहीं है। फिर अनेक प्रकार की कहानियाँ लिखी गई हैं। विषयों का निर्वाचन कहानी-लेखक प्राय: अपनी रुचि और सिद्धान्तों के अनुकूल करता है। 'हितोपदेश' तथा 'पंचतन्त्र' में सिद्धान्त प्रतिपादन ही कथाकार का ध्येय होता था। इस ध्येय की पूर्ति वह अन्योक्ति द्वारा किया करता था। इसलिए ऐसी रचनाओं में मनुष्यों के स्थान पर पात्रों की स्थान-पूर्ति पशु-पक्षियों द्वारा भी हुई है।

हिन्दी कहानियों के प्रारम्भिक विकास-काल में भारत में सामाजिक तथा धार्मिक सुधार की भावना जाग्रत हो चुकी थीं, अतएव कहानी-लेखकों में भी समाज-सुधार की प्रबल प्रेरणा पाई जाती है। उस समय विधवा-विवाह, स्त्री-शिक्षा, विदेश-शिक्षा, अछूतोद्धार आदि विभिन्न सुधारात्मक विषयों पर कहानियाँ लिखी गईं। ऐसी कहानियों में लेखक का उद्देश्य अपने सुधारवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन करना होता था। इसलिये उसमें प्रचार की भावनाएँ अधिक हो जाती थीं और संघर्ष चित्रण उपेक्षित हो जाते थे और लेखक एक जीवन का सूक्ष्म और वास्तविक विश्लेषण नहीं कर पाता था। केवल आदर्श की प्रतिष्ठा करना उसका चरमोद्देश्य रह जाता था। पं० ज्वालादत्त शर्मा की कहानियों में आदर्श की ओर यह प्रवृत्ति सबसे अधिक दृष्टिगत होती है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि सामाजिक माँगों की पूर्ति उन्होंने तीव्र व्यंग्यों से पूर्ण कहानियों द्वारा की। प्रेमचन्द ने भी समाज की व्यवस्था तथा उसके भीतरी संघर्षों से प्रभावित होकर ही कहानियाँ लिखी हैं। उनकी कहानियों में ग्रामीण समाज और निर्धनों तथा पीड़ितों के प्रति एक गम्भीर समवेदना और

सहानुभूति का परिचय मिलता है। देश के राष्ट्रीय आन्दोलनों का प्रभाव भी उनकी रचनाओं पर पूर्ण रूप से है।

आरम्भ में कुछ कहानी लेखकों का ध्यान जासूसी कहानियाँ लिखने की ओर भी गया था। इन कहानियों में जासूसी के अद्भुत साहस और वीरता की अनेक घटनाओं के साथ सुन्दर वर्णन मिलता है। लेकिन इनका आधार यूरप की जासूसी कहानियाँ थीं। वातावरण केवल भारतीय बना दिया जाता था। जासूसी कहानियाँ लिखने वालों में गोपालराम गहमरी बहुत प्रसिद्ध थे।

हास्यरस के कहानी-लेखकों में जी० पी० श्रीवास्तव, अन्नपूर्णानन्द वर्मा, बेढब बनारसी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके हास्य में सामाजिक कुरीतियों पर तीव्र व्यंग रहते हैं। इन कहानियों में हँसी की सामग्री तो पर्याप्त मात्रा में मिलती ही है, किन्तु यदि उनमें निहित व्यंग को लेकर समाज का अध्ययन किया जाय तो वे समाज की हेय दुर्बलताओं को सामने लाने में भी सहायक होती हैं। गम्भीर विचारक उनमें समाज की दुर्दशा और दुर्बलता स्पष्ट देखता है। थोड़ी ही देर में उसकी हँसी पीड़ा और अनुपात में परिणत हो जाती है; किन्तु कुछ कहानियाँ ऐसी भी होती हैं, जिनमें व्यर्थ के हास्य के सिवाय और कुछ नहीं मिलता। इस प्रकार का हास्य उत्पन्न करने वाली कहानियों में तीव्र व्यंग का अभाव रहता है; निम्नकोटि के हास्य ही प्रस्तुत कर पाती हैं। ऐसी कहानियों का कोई अधिक मूल्य नहीं। कुछ लेखक इतिहास की पृष्ठभूमि पर अपने पात्रों को खड़ा करते हैं। ऐसी कहानियों को ऐतिहासिक कहानियाँ कहते हैं। इनमें कुछ ऐतिहासिक तथ्यों का विकास कल्पना की उर्वरता में किया जाता है। सम्भवतः इनमें इतिहास का सत्य न्यून मात्रा में और कल्पना की कल्पना अधिक मात्रा में रहती है।

हिन्दी में विज्ञान, भूत-प्रेत आदि से सम्बन्ध रखने वाली कहानियाँ कम हैं। इनका मुख्य कारण यह है कि लेखकों का ध्यान अभी इधर नहीं गया है। डाक्टर व्रजमोहन गुप्त ने कुछ वैज्ञानिक कहानियाँ लिखी हैं। इन कहानियों में कुछ तो भावना प्रधान हैं और कुछ मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुकूल पात्रों की मनोवृत्तियों का सूक्ष्म निदर्शन कराती हैं। यूरोप में मनोविज्ञान के

क्षेत्र में फ्रायड, एडलर तथा युङ्ग ने कुछ नये विचार दिये। हमारे लेखकों पर इनका प्रभाव भी पड़ा है।

पिछले पाँच साल में कहानी में कई नये रूप आये हैं। जिनको 'स्केच', 'रिपोर्टाज' आदि कहते हैं। स्केच किसी एक घटना पर प्रकाश डालता है, पर उसका विस्तार दो-तीन पृष्ठों से अधिक नहीं होता है। रिपोर्टाज अखबारी रिपोर्टों का साहित्यिक रूप कहा जा सकता है। द्वितीय-युद्ध के पश्चात् कहानी से विषय में भी काफी परिवर्तन हुआ है। युद्ध की कहानियाँ, दूसरे देशों के विषय में वहाँ की धरती पर होने वाले संघर्षों का वर्णन, कन्ट्रोल, अकाल आदि प्रतिदिन की कठिनाइयों पर भी लेखक लिख रहे हैं। शहरों से दूर देहातों की बोलियों में भी कहानियाँ लिखी जा रही हैं, जिनका विषय गाँवों का अपना वातावरण और उनके अपने पात्र होते हैं।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद कहानियों का विषय समस्यापूरक हो गया है। स्वतंत्र देश के सम्मुख जो नाना समस्याएँ हैं, उन्हें लेकर कहानियाँ लिखी जा रही हैं। इन कहानियों में अनेक में कला का तत्व है और वे साहित्य की दृष्टि से भी उच्चकोटि की है। इस क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति हो रही है और नये कहानीकारों से हिन्दी संसार को पर्याप्त आशा है।

कहानीकारों का संक्षिप्त परिचय

श्री चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी'

श्री गुलेरी जी का जन्म सन् १८८३ ई० से जयपुर में हुआ था। गुलेरी जी प्रतिभा-सम्पन्न विद्यार्थी थे और १६ वर्ष की आयु में ही प्रयाग विश्वविद्यालय से इन्ट्रेंस की परीक्षा सर्व प्रथम श्रेणी में प्रथम रहकर पास करली थी। सन् १९०४ में प्रयाग विश्वविद्यालय से ही उन्होंने बी० ए० की परीक्षा पास की और उसमें भी सर्वप्रथम रहे। इसके बाद आप मेयो कालेज, अजमेर में संस्कृत के प्रधान अध्यापक नियुक्त किये गये। सन् १९०२ में हिन्दू युनिवर्सिटी बनारस में 'कालेज आफ ओरियण्टल लर्निङ्ग एण्ड थियालोजी' के प्रिंसिपल नियुक्त हुए, परन्तु दो वर्ष के बाद ही आपकी असामयिक मृत्यु हो गयी।

लेखक और कहानीकार के अतिरिक्त गुलेरी जी पुरातत्व, भाषा-विज्ञान संस्कृत एवं प्राकृत के श्रेष्ठ विद्वान् थे। हिन्दी-साहित्य में आपकी कुल तीन कहानियाँ प्रसिद्ध हैं, 'सुखमय जीवन', 'बुद्धू का काँटा' और 'उसने कहा था', जो उन्हें अमर कहानीकार बनाने के लिए पर्याप्त हैं। प्रस्तुत कहानी को हिन्दी के कुछ आलोचक हिन्दी-संसार की सर्वश्रेष्ठ कहानी कहते हैं और इसमें सन्देह नहीं कि कथानक, टेक्नीक, भाषा, कथोपकथन, चरित्र-चित्रण और अभिव्यक्ति का इतना सुन्दर सामञ्जस्य हिन्दी की शायद ही किसी कहानी में हो। 'उसने कहा था' की गणना संसार की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में की जा सकती है। व्यञ्जना, जो आधुनिक आख्यायिका का सर्वोत्तम लक्षण है, इस कहानी का प्रधान गुण है।

श्री प्रेमचन्द

प्रेमचन्द का जन्म बनारस जिले में संवत् १९३७ में हुआ था। इनके बचपन का नाम धनपतराय था। इन्ट्रेंस पास करने के बाद आप एक स्कूल में ८१) रु० मासिक पर अध्यापक हुए और प्राईवेट परीक्षा देकर बी० ए० पास कर स्कूलों के सब डिप्टी इन्सपेक्टर हो गये। प्रेमचन्द पहले उर्दू में लिखते

थे। हिन्दी में उनकी सबसे प्रथम कहानी सन् १९१६ ई० में सरस्वती में छपी थी।

प्रेमचन्द हिन्दी के उपन्यास-सम्राट् कहे जाते हैं और इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी-संसार को इस क्षेत्र में उन्होंने जो दिशा दी वह सर्वथा नवीन थी, चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी और शैली को दृष्टि से भी। उन्होंने पहले-पहल देहात के किसान और निम्न वर्ग को अपने उपन्यासों और कहानियों का नायक बनाया और उस वर्ग की समस्याओं का सहानुभूतिपूर्ण चित्रण किया। अपनी कहानियों में कथा-प्राधान्य के स्थान पर उन्होंने पात्रों के मनोभावों के चित्रण और विश्लेषण पर बल दिया और भाषा की दृष्टि से भी हिन्दी में ग्रामीण बोली और उसके मुहावरों का प्रयोग कर एक प्रकार की क्रांति सी की। भारत के देहात से, उसके जन-मानस का, उसके प्राकृतिक एवं सामाजिक वातावरण का इतना सुन्दर चित्रण हिन्दी में पहले कभी नहीं हुआ था।

प्रेमचन्द ने लगभग ३०० कहानियाँ लिखी हैं। प्रस्तुत कहानी में एक वृद्धा के मनोभावों का विशद एवम् सहानुभूतिपूर्ण सुन्दर चित्रण है और उसमें वे सभी गुण हैं जो प्रेमचन्द की विशेषताएँ हैं।

श्री जयशंकर 'प्रसाद'

काशी के एक प्रतिष्ठित और धनी वैश्य घराने में सन् १८८९ ई० में आपका जन्म हुआ था। 'प्रसाद' जी की प्रारम्भिक शिक्षा आठवें दर्जे तक ही हो पाई थी। १२ वर्ष की अवस्था में पिता की मृत्यु हो जाने के कारण स्कूल की पढ़ाई छूट गयी। फिर उन्होंने स्वाध्याय के रूप में संस्कृत, हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी का ज्ञान प्राप्त किया। 'प्रसाद' जी हिन्दी के श्रेष्ठ नाटककार, कवि और कहानीकार माने जाते हैं। सन् १९३७ ई० में उनकी असामयिक मृत्यु से हिन्दी जगत की जो क्षति हुई, उनकी पूर्ति संभव नहीं।

प्रसाद जी एक नये साहित्यिक-युग के प्रवर्तक एवं निर्माता थे और नई विचारशैली एवं दर्शन के प्रणेता। भारत के अतीत का उनका गहरा अध्ययन था और उसे अपने कवि-हृदय के रस से खींचकर उन्होंने अपने नाटकों और कहानियों में जो उदात्त रूप दिया है, वह हिन्दी-साहित्य की अपूर्व निधि है।

प्रसाद जी की भाषा संस्कृत गर्भित और प्रवाहयुक्त है। उनके भावों में कल्पना और कवित्व की प्रधानता रहती है।

प्रस्तुत कहानी में अतीत की पृष्ठभूमि में मानव-हृदय के एक शाश्वत भाव का व्यंजनापूर्ण चित्रण है। कहानी का प्रारम्भ अत्यन्त नाटकीय ढंग से हुआ है।

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'

कौशिक जी का जन्म अम्बाला छावनी में एक साधारण स्थिति के कौशिक गोत्रीय आदि गौड़ वंश में हुआ था। पिता फौज में स्टोरकीपर थे। जब आपकी अवस्था चार वर्ष की हुई तब आपके एक बाबा ने, जो कानपुर में वकालत करते थे और निस्संतान थे, आपको दत्तक-पुत्र बना लिया। आपने स्कूल में मैट्रिक तक शिक्षा पाई। स्कूल में फारसी और उर्दू पढ़ी और हिन्दी तथा संस्कृत का ज्ञान घर पर अर्जित किया। आप उर्दू में 'राग़िब' के उपनाम से कविता भी करते थे। इनका हिन्दी में लिखने का क्रम १९११ से आरम्भ हुआ। स्व० महावीर प्रसाद द्विवेदी जी से जब प्रथम बार भेंट हुई तो उन्होंने पूछा, 'तुम्हारी रुचि किस ओर है?' उत्तर मिला, 'कहानी उपन्यास की ओर।' उन्होंने कहा, तो वही लिखा करो। १९१२ ई० में 'सरस्वती' में आपकी पहली कहानी 'रक्षाबन्धन' छपी जो इस संग्रह में दी गई है।

सुदर्शन

श्री सुदर्शन जी का जन्म १८९६ ई० में पंजाब के स्यालकोट नामक जिले के मध्यम श्रेणी के परिवार में हुआ था। आपका नाम श्री बदरीनाथ था। बचपन से ही आप अपनी साहित्यिक धुन के पक्के थे, इसलिये आर्य समाज के प्रचारक बन गये और एक पत्र का सम्पादन करने लगे। सुदर्शनजी 'कला कला के लिये' है, वाला मत स्वीकार नहीं करते हैं। प्रेमचन्द की भाँति आप उर्दू के ख्याति-प्राप्त लेखक बन चुकने पर हिन्दी में आये हैं। तब से लगातार कई वर्षों तक आप साहित्य-सेवा करते रहे हैं। अब आपने सिनेमा क्षेत्र में प्रवेश कर लिया है तथा आपके सहयोग से कई कलापूर्ण चित्र जनता के सम्मुख आ चुके हैं।

प्रेमचन्द जी की शैली पर कहानी लिखने वालों में सुदर्शन जी का प्रमुख स्थान है। आपकी रचनाएँ वर्णनात्मक होती हैं। आपका कथन है कि 'हमें ऐसी कहानियाँ चाहिए, जिनका प्रभाव राष्ट्र और समाज पर अमिट हो और यह तभी हो सकता है जब हमारे समाज और राष्ट्र की बातें ही कहानी में हों।'

वृन्दावन लाल वर्मा

वर्मा जी हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासकारों में अग्रणी हैं। आपको इस क्षेत्र में एक नवीन धारा प्रवाहित करने का श्रेय है। आपके उपन्यासों में ऐतिहासिकता का हनन नहीं किया गया है। आपने 'गढ़ कुण्डार', 'विराटा की पद्मिनी', 'झाँसी की रानी', 'मृगनयनी' आदि ऐतिहासिक उपन्यासों के साथ-साथ अनेक सामाजिक उपन्यास भी लिखे हैं। इन उपन्यासों में यथार्थ के साथ-साथ आदर्श का अच्छा मेल पाया जाता है। वर्मा जी ने उपन्यास के अतिरिक्त हिन्दी के कहानी-साहित्य की भी श्री-वृद्धि की है। उपन्यासों की तरह आपने सामाजिक और ऐतिहासिक दोनों ही प्रकार की कहानियाँ लिखी हैं।

आपकी कहानियों में पात्रों के मनोभावों का सफल चित्रण हुआ है। उनमें घटनाओं का नियोजन भी अच्छा है। आपकी कुछ कहानियाँ चरित्र-प्रधान, कुछ घटना-प्रधान और कुछ भावना-प्रधान हैं, पर सब में मनोविज्ञान एवं आदर्श का सुन्दर समन्वय है। आपके आदर्शवाद में स्वस्थ राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक चेतना का अच्छा पुट है। वर्मा जी अपने विचारों को कृत्रिम भाषा का आवरण नहीं देते। उनके वर्णन और कथानक के साथ-साथ भाषा अपने सहज रूप में आगे बढ़ती है और उसमें कृत्रिमता का लेश मात्र भी नहीं पाया जाता है। आपने कहीं-कहीं स्थानीय शब्दों का भी प्रयोग किया है जो पाठक को यदा-कदा खटकते हैं।

भगवती चरण वर्मा

वर्मा जी का जन्म शफीपुर उन्नाव में सन् १६०३ ई० में हुआ। आपने प्रयाग विश्वविद्यालय में शिक्षा पायी, पर वकालत पास करने पर भी साहित्य के प्रति अनुराग होने से आपकी तबीयत उस ओर नहीं लगी।

वर्मा जी कवि हैं और हिन्दी के प्रगतिशील कवियों में उनका स्थान है, पर वे अच्छे कहानी-लेखक भी हैं। उन्होंने अपनी कहानियों में मानव-चरित्र का विश्लेपण बड़ी कुशलता से किया है। आपकी भाषा सरल तथा मुहावरेदार है। बीच-बीच में आप सजीव मीठी चुटकियों का पुट देते हैं।

'प्रायश्चित्त' नाम की कहानी में एक चुभता हुआ हल्का व्यङ्ग है समाज की एक जीर्ण-जीर्ण रूढ़ि के प्रति। बिल्ली मारने के प्रायश्चित्त से किसी भी हत्या के ढोंगपूर्ण प्रायश्चित्त तक वह व्यंग व्यापक है और लेखक के दृष्टिकोण का परि-पोषक है। लोभी परमसुख का चित्रण सजीव है। भाषा सरल किन्तु चोट करने वाली है।

जैनेन्द्र कुमार

जैनेन्द्र जी का जन्म कौड़ियागञ्ज अलीगढ़ में सन् १६०५ ई० में हुआ था। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा जैन गुरुकुल ब्रह्मचर्याश्रम, हस्तिनापुर में हुई। बचपन से ही आप दिल्ली में रहने लगे। १६२२ में असहयोग के दिनों में आपने कालेज छोड़ दिया तथा जेल चले गये। जेल में ही आपको लिखने को प्रेरणा हुई। सन् १६२८ में 'विशाल भारत में आपकी पहली कहानी 'खेल' प्रकाशित हुई। जैनेन्द्र जी की भाषा मँजी हुई होती है। आप छोटे-छोटे ध्वनिपूर्ण वाक्यों द्वारा कुशलतापूर्वक अपने भावों को व्यक्त करते हैं। उर्दू तथा अँग्रेजी के शब्दों को भी अपनी भाषा में यदा-कदा अपनाते हैं। आप पर गाँधीवाद का अधिक प्रभाव है और आप चिन्तनशील लेखक हैं।

भाषा और शैली की दृष्टि से जैनेन्द्र जी की कहानियों में एक प्रकार की नवीनता थी और 'परख' उपन्यास के प्रकाशित होने के बाद, उनका एक मौलिक कहानीकार की दृष्टि से, हिन्दी में अच्छा स्वागत हुआ।

चतुरसेन शास्त्री

शास्त्री जी का जन्म सम्वत् १६४८ में हुआ था। आप दिल्ली में रहते थे और साहित्य-सेवा के अतिरिक्त 'वैद्य' का कार्य भी करते थे। आप सिद्धहस्त कहानी-लेखक तथा सफल उपन्यासकार थे। आपकी कहानियों में ओज और रोचकता है। आपकी वर्णन शैली बहुत प्रभावशाली है। आपने अपनी

रचनाओं में पात्रों का इतना सुन्दर चित्रण किया है कि पाठक उनको भूल नहीं सकता। आपने कई नाटक, गद्य-काव्य लिखे हैं।

शास्त्री जी हिन्दी के प्रसिद्ध शैलीकार थे और उनकी शैली में प्रखर प्रवाह है, उनकी भाषा मुहावरेदार है, जिससे वर्णन सजीव हो जाता है और एक साधारण घटना भी सप्राण होकर कलात्मक कहानी का रूप धारण कर लेती है।

भगवती प्रसाद वाजपेयी

वाजपेयी जी का जन्म कानपुर के एक साधारण ब्राह्मण परिवार में सन् १८९९ ई० में हुआ। आपने हिन्दी मिडिल तक शिक्षा पाई। मिडिल पास करने के बाद आप अपने गाँव की ही अपर प्राइमरी पाठशाला में अध्यापक हो गये, परन्तु आपको इस जीवन से संतोष नहीं था, इसलिए कानपुर चले गये। यहाँ होमरूल लीग की लाइब्रेरी में लाइब्रेरियन हो गये। यहाँ आपको हिन्दी-साहित्य का अध्ययन करने का अवसर मिला और लिखने की प्रेरणा भी मिली। पहले आप प्रायः कविताएँ लिखते थे। फिर जीवन के कटु अनुभवों ने आपको गद्य में लिखने के लिए प्रेरित किया। १९४२ में आपकी पहली कहानी 'माधुरी' में छपी। अब तक आप लगभग तीन सौ कहानियाँ, १४ उपन्यास, एक नाटक तथा १५ विविध-विषयक अन्य छोटी-मोटी पुस्तकें लिख चुके हैं। आपकी कविताओं का एक संग्रह भी हाल में प्रकाशित हुआ है। हिन्दी के अच्छे कहानी-लेखकों में आपका स्थान है।

यशपाल

'यशपाल' हिन्दी साहित्य के एक समर्थ साहित्यकार हैं। आपने प्रेमचन्द्र की ही भाँति व्यापक और विशाल जन-जीवन को अपने उपन्यासों और कहानियों में समेटकर उनके द्वारा प्रगतिगामी चेतना की आभा विकीर्ण की है। आप प्रेमचन्द और जैनेन्द्र जैसे उत्कृष्ट कलाकारों की कोटि में आते हैं, किन्तु उनसे आपकी चेतना, प्रवृत्ति और कला भिन्न है। प्रेमचन्द की तरह यशपाल भी उपन्यास और कहानी दोनों क्षेत्रों में समान रूप से सफल हुए हैं। आपकी कहानियों के लगभग दस संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें 'अभिशाप'

'वो दुनिया', 'ज्ञानदान', 'नर्क का तूफ़ान', 'फूलों का कुर्ता' 'धर्मयुद्ध', और 'चित्र का शीर्षक' आदि प्रमुख हैं।

यशपाल की कहानियों में सामाजिक स्थिति का विश्लेषण प्रधान रहता है। आपकी कहानियों की कथावस्तु, चरित्र-चित्रण तथा शैली प्रौढ़ और परिमार्जित है। भाषा की दृष्टि से आप कट्टरपंथी नहीं हैं। यशपाल जी की कहानियों में वर्ग-संघर्ष का भी अच्छा विश्लेषण रहता है और वह विश्लेषण मनोभावों का द्वन्द्व भी साथ लेकर चलता है। यशपाल अपने पात्रों और वर्णन में विस्तार से रंग भरते और अपने वर्णित पक्ष को स्पष्ट अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। उनकी कला में कहीं दुरूहता और उलझाव नहीं आने पाता। आपके वर्णन में, आपकी कला में यथार्थ स्पष्ट रूप से अंकित रहता है और वे यथार्थ पर आदर्श को हावी नहीं होने देते। यशपाल एक यथार्थवादी कहानीकार हैं जो वर्तमान समाज की जर्जर रूढ़िगत मान्यताओं के थोथेपन और उनसे प्रसूत सामाजिक विकारों का चित्रण करते हैं। आपकी भाषा प्रौढ़ और शैली सशक्त है।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

श्री अश्क जी का जन्म पंजाब में सन् १९१० ई० में हुआ था। सन् १९३० ई० में आपने बी० ए० पास किया तथा जालंधर के एक स्कूल में अध्यापक हो गये, पर शीघ्र ही उस जीवन से ऊब कर लाहौर चले गये। आपने कई उर्दू पत्र पत्रिकाओं के सम्पादकीय विभाग में काम किया है। सन् १९३३ ई० में आपकी पहली हिन्दी कहानी 'हंस' में छपी। इसके पहले आपकी उर्दू कहानियों के दो संग्रह प्रकाशित हो चुके थे। सन् १९३४ ई० में आपने वकालत की परीक्षा पास की, पर वकालत नहीं की। आपने कुछ दिन आल इंडिया रेडियो और सिनेमा में भी काम किया है। आजकल प्रयाग में रह कर साहित्य-सेवा कर रहे हैं।

अश्क जी अपनी कथाओं में एक व्यापक दृष्टिकोण लाने का प्रयत्न करते हैं। ये जिस वातावरण का चित्रण करते हैं, उसकी छोटी-छोटी परिस्थितियों को भी चेतना प्रदान करने में नहीं चूकते। इनकी कथाओं का विकास स्वस्थ है और स्थानीय चित्रण करने में ये बहुत सफल हुए हैं।

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

आप का जन्म पश्चिमोत्तर पंजाब के एक गाँव कोटअद्दू में सन् १९०६ ई० में हुआ था। आपने शिक्षा गुरुकुल काँगड़ी, हरिद्वार में पाई। आपकी पहली कहानी सन् १९२८ में 'विशाल भारत' में प्रकाशित हुई। अब तक 'चन्द्रकला', 'भय का राज्य' तथा 'अमावस' नाम से तीन कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। कुछ वर्ष पूर्व आपने हिन्दी कहानियों के विकास पर एक आलोचनात्मक लेख विशाल भारत' में लिखा था। इस लेख में उन सब कहानी लेखकों का, जिनकी इसमें आलोचना की गई थी, ध्यान आकर्षित किया और पत्र-पत्रिकाओं में इसकी काफी चर्चा रही। आपके इसी लेख को ध्यान में रखकर एक आलोचक ने लिखा है कि आप में कहानी-लेखक होने की अपेक्षा कहानी के समालोचक होने की प्रतिभा अधिक है। परन्तु यहाँ जो कहानी दी जा रही है, उससे सिद्ध होता है कि आप सुन्दर कहानी लिखते हैं कहानियों के अलावा आपने नाटक तथा एकांकी भी लिखे हैं।

विष्णु प्रभाकर

हिन्दी के आधुनिक कहानीकारों में विष्णु प्रभाकर का स्थान ऊँचा है। आप गत बीस वर्षों से अपनी कहानियों द्वारा हिन्दी का भंडार भर रहे हैं। आपकी कहानियाँ सभी प्रमुख पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं और पाठक उत्सुकता-पूर्वक उनकी प्रतीक्षा करते हैं।

आपकी कहानियाँ जीवन के संघर्ष का अच्छा चित्रण करती हैं। उस चित्रण की आधार-शिला वास्तविकता होती है और उस पर गांधीवाद का प्रभाव भी स्पष्ट होता है। विष्णु प्रभाकर की कहानियों में कथावस्तु और शैली की विविधता उनकी एक विशेषता बन गयी है। लेखक अपनी कहानियों में जीवन को नजदीक से देखने का प्रयास करता है, अतः वे सजीव और यथार्थ होती हैं और पाठक के मन-प्राण को छूती हैं। आपकी भाषा और शैली प्रांजल एवं प्रौढ़ है और सत्य, संघर्ष तथा प्रवल प्रत्याघात के चित्रण से उसमें सीधे हृदय तक पहुँचाने वाला वेग भी मन्द नहीं होने पाता।

अनुक्रमणिका

श्री चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी'

उसने कहा था

(१)

बड़े-बड़े शहरों में इक्के-गाड़ी वालों की जबान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है और कान पक गये हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृतसर के बम्बूकार्ट वालों की बोली का मरहम लगाएँ। जब बड़े-बड़े शहरों की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ को चाबुक से धुनते हुये, इक्के वाले कभी घोड़े की नानी से अपना सम्बन्ध स्थिर करते हैं, कभी राह चलते पैदलों को आँखों के न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की अँगुलियों के पोरों को चीथकर अपने ही को सताया हुआ बताते हैं और संसार भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरी वाले तंग चक्करदार गलियों में हर एक लड्ढी वाले के लिए ठहकर, सब्र का समुद्र उमड़ाकर, 'बचो, खालसा जी!' 'हटो भाई जी'! 'ठहरना भाई!' 'आने दो लाला जी!' 'हटो बाछा!' [—बादशाह] कहते हुए सफेद फेंटों, खच्चरों और बत्तखों, गन्ने और खोमचे और भारे वालों के जंगल में से राह खेते हैं। क्या मजाल है कि 'जी' और 'साहब' बिना सुने किसी को हटना पड़े। यह नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं, चलती है, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती हुई। यदि कोई बुढ़िया बार-बार चेतावनी देने पर भी लीक से नहीं हटती, तो उनकी बचनावली के ये नमूने हैं—'हट जा जीणे जोगिये, हटजा करमाँ वालिये, हट जा पुत्ता प्यारिये, बच जा लम्बी वालिये।' समष्टि में इनके अर्थ हैं—तू जीने

योग्य है, तू भाग्यवाली है, पुत्रों को प्यारी है, लम्बी उमर तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहिये के नीचे आना चाहती है ? बच जा।

ऐसे बम्बूकार्ट वालों के बीच में होकर एक लड़का और एक लड़की चौक की दूकान पर आ मिले। उनके बालों और ढीले सुथने से जान पड़ता था कि दोनों सिख हैं। वह अपने मामा के केश धोने के लिये दही लेने आया था और यह रसोई के लिए बड़ियाँ। दूकानदार एक परदेशी से गुथ रहा था जो सेर-भर गीले पापड़ों की गड्डी को गिने बिना हटता न था।

"तेरे घर कहाँ ?"

"मगरे में—और तेरे ?"

"माँझे में—यहाँ कहाँ रहती है ?"

इतने में दूकानदार निबटा और इनका सौदा देने लगा। सौदा लेकर दोनों साथ-साथ चले। कुछ दूर जाकर लड़के ने मुस्कराकर पूछा—'तेरी कुड़माई [=मगनी] हो गई ?"

इस पर लड़की कुछ आँखें चढ़ाकर 'धत्' कहकर दौड़ गई और लड़का मुँह देखता रह गया।

दूसरे तीसरे दिन सब्जी वाले के यहाँ, दूध वाले के यहाँ अकस्मात् दोनों मिल जाते। महीना-भर यही हाल रहा। दो-तीन बार लड़के ने फिर पूछा, 'तेरी कुड़माई हो गई ?" और उत्तर में वही 'धत्' मिला। एक दिन जब फिर लड़के ने वैसे ही हँसी में चिढ़ाने के लिए पूछा तो लड़की कड़के की सम्भावना के विरुद्ध बोली—"हाँ हो गई।"

"कब ?"

"कल; देखते नहीं, यह रेशम से कढ़ा हुआ 'सालू' [=ओढ़नी]।"

लड़की भाग गई। लड़के ने घर की राह ली, रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया, एक छावड़ी वाले की दिन-भर की कमाई खोई, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और गोभी वाले के ठेले में दूध उँड़ेल दिया। सामने नहाकर आती हुई किसी वैष्णवी से टकराकर अन्धे की उपाधि पाई; तब कहीं घर पहुँचा।

(२)

"राम-राम, यह भी कोई लड़ाई है ! दिन-रात खन्दकों में बैठे हड्डियाँ अकड़ गईं । लुधियाना से दस गुना जाड़ा, मेंह और बरफ़ उपर से, पिंडलियों तक कीचड़ में धँसे हुए हैं । गनीम कहीं दिखता नहीं,—दो घण्टे में कान के परदे फाड़ने वाले धमाके के साथ सारी खन्दक हिल जाती है और सौ-सौ गज धरती उछल पड़ती है । इस गैबी गोल से बचे तो कोई लड़े । नगरकोट का जलजला सुना था, यहाँ दिन में पचीस जलजले होते हैं । कहीं खन्दक से बाहर साफा, या कुहनी निकल गई, तो चटाक से गोली लगती है । न मालूम बेईमान मिट्टी में लेटे हुए हैं या घास की पत्तियों में छिपे रहते हैं ।"

"लहनासिंह, और तीन दिन हैं, चार तो खन्दक में बिता ही दिए, परसों 'रिलीफ' आ जायगी, और फिर सात दिन की छुट्टी। अपने हाथों झटका [= बकरा मारना] करेंगे और पेट-भर खाकर सो रहेंगे । उसी फिरंगी [= फ्रेंच] मेम के बाग में—मखमल की सी हरी घास है । फल और दूध की वर्षा कर देती है । लाख कहते हैं, दाम नहीं लेती । कहती है, तुम राजा हो, मेरे मुल्क को बचाने आये हो ।"

"चार दिन तक पलक नहीं झपी । बिना फेरे घोड़ा बिगड़ता है और बिना लड़े सिपाही । मुझे तो संगीन चढ़ाकर मार्च का हुक्म मिल जाय । फिर सात जर्मनों को अकेला मारकर न लौटूँ तो मुझे दरबार साहब की दहलीज पर मत्था टेकना नसीब न हो । पाजी कहीं के, कलों के घोड़े—संगीन देखते ही मुँह फाड़ देते हैं और पैर पकड़ने लगते हैं । यों अँधेरे में तीस-तीस मन का गोला फ़ेंकते हैं । उस दिन धावा किया था—चार मील तक एक जर्मन नहीं छोड़ा था । पीछे जनरल साहब ने हट आने का कमान दिया, नहीं तो......"

"नहीं तो सीधे बर्लिन पहुँच जाते, क्यों ?" सूबेदार हजारासिंह ने मुस्करा-कर कहा—"लड़ाई के मामले जमादार या नायक के चलाये नहीं चलते । बड़े अफसर दूर की सोचते हैं । तीन-सौ मील का सामना है । एक तरफ बढ़ गये तो क्या होगा ?"

"सूबेदार जी, सच है," लहनासिंह बोला—"पर करें क्या ? हड्डियों-हड्डियों में तो जाड़ा धँस गया है । सूर्य निकलता नहीं और खाई में दोनों तरफ

से चम्बे की बावलियों के-से सोते झर रहे हैं । एक धावा हो जाय, तो गरमी आ जाय ।"

"उदमी [= उधमी], उठ सिगड़ी में कोले डाल । वजीरा, तुम चार जने बाल्टियाँ लेकर खाई का पानी बाहर फेंको । महासिंह, शाम हो गई है, खाई के दरवाजे का पहरा बदल दे ।"—यह कहते हुए सूबेदार सारी खन्दक में चक्कर लगाने लगे ।

वजीरासिंह पल्टन का विदूषक था, बाल्टी में गँदला पानी भरकर खाई के बाहर फेंकता हुआ बोला—"मैं पाधा बन गया हूँ । करो जर्मनी के बादशाह का तर्पण !" इस पर सब खिलखिला पड़े और उदासी के बादल फट गए ।

लहनासिंह ने दूसरी बाल्टी भरकर उसके हाथ में देकर कहा—"अपनी बाड़ी के खरबूजों में पानी दो, ऐसा खाद का पानी पंजाब-भर में नहीं मिलेगा ।"

"देश क्या है, स्वर्ग है । मैं तो लड़ाई के बाद सरकार से दस घुमा [= जमीनों की नाप] जमीन यहाँ लूँगा और फलों के बूटे [= पेड़] लगाऊँगा ।"

"लाड़ी होराँ [= स्त्री] को भी यहीं बुला लोगे ? या वही दूध पिलाने वाली फिरङ्गी मेम—"

"चुप रह । यहाँ वालों को शरम नहीं ।"

"देस-देस की चाल है । आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिख तम्बाकू नहीं पीते । वह सिगरेट देने में हठ करती, ओठों में लगाना चाहती है और मैं पीछे हटता हूँ तो समझती है कि राजा बुरा मान गया, अब मेरे मुल्क के लिए लड़ेगा नहीं ।"

"अच्छा, अब बोधासिंह कैसा है ?"

"अच्छा है ।"

"जैसे मैं जानता ही न होऊँ । रात भर दोनों कम्बल उसे उढ़ाते हो और आप सिगड़ी के सहारे गुजर करते हो । उनके पहरे पर आप पहरा दे आते हो । अपने सूखे लकड़ी के तख्तों पर उसे सुलाते हो, आप कीचड़ में पड़े रहते हो । कहीं तुम न माँदे पड़ जाना । जाड़ा क्या है,

मौत है और 'निमोनिया' से मरने वालों को मुरब्बे [= नई नहरों के पास वग भूमि] नहीं मिला करते।"

"मेरा डर मत करो। मैं तो बुलेल के खड्ड के किनारे मरूँगा। भाई कीरतसिंह की गोदी पर मेरा सिर होगा और मेरे हाथ के लगाये हुए आँगन के आम के पेड़ की छाया होगी।"

वजीरासिंह ने त्यौरी चढ़ाकर कहा—"क्या मरने मारने की बात लगाई है? मरें जर्मनी और तुरक! हाँ भाइयो, कैसे—"

× × ×

कौन जानता था कि दाढ़ियों वाले घर-बारी सिख ऐसा लुच्चों का गीत गायेंगे, पर सारी खन्दक इस गीत से गूँज उठी, सिपाही फिर ताजे हो गए, मानों चार दिन से सोते और मौज ही करते रहे हों।

(३)

दो पहर रात हो गई है। अँधेरा है। सन्नाटा छाया हुआ है। बोधासिंह खाली बिस्कुटों के तीन टिनों पर अपने दोनों कम्बल बिछाकर और लहनासिंह के दो कम्बल और एक बरानकोट [= ओवर कोट] ओढ़ कर सो रहा है। लहनासिंह पहरे पर खड़ा हुआ है। एक आँख खाई के मुँह पर है और एक बोधासिंह के दुबले शरीर पर। बोधासिंह कराहा।

"क्यों बोधा भाई, क्या है?"

"पानी पिला दो।"

लहनासिंह ने कटोरा उसके मुँह से लगाकर पूछा—"कहो, कैसे हो?"

पानी पीकर बोधा बोला—"कँपनी [= कँपकँपी] छुट रही है। रोम-रोम में तार दौड़ रहे हैं। दाँत बज रहे हैं।"

"अच्छा मेरी जरसी पहन लो।"

"और तुम?"

"मेरे पास सिगड़ी है और मुझे गरमी लगती है, पसीना आ रहा है।"

"ना, मैं नहीं पहनता, चार दिन से तुम मेरे लिए..."

"हाँ याद आई। मेरे पास दूसरी गरम जरसी है। आज सवेरे ही आई

है। विलायत से मेमें बुन-बुनकर भेज रही हैं। गुरु उनका भला करें।" यों कहकर लहना अपना कोट उतार कर जरसी उतारने लगा।

"सच कहते हो ?"

"और नहीं झूठ ?" यों कहकर नाहीं करते बोधा को उसने जबरदस्ती जरसी पहना दी। आप खाकी कोट और जीन का कुरता-भर पहनकर पहरे पर आ खड़ा हुआ। मेम की जरसी की कथा केवल कथा थी।

आधा घण्टा बीता। इतने में खाई के मुँह से आवाज आई—"सूबेदार हजारासिंह ?"

"कौन ? लपटन साहब ? हुकुम हुजूर," कहकर सूबेदार तनकर फौजी सलाम करके सामने हुआ।

"देखो, इसी समय धावा करना होगा। मील भर की दूरी पर पूरब के कोने में एक जर्मन खाई है। उसमें पचास से ज्यादा जर्मन नहीं हैं। इन पेड़ों के नीचे-नीचे दो खेत काटकर रास्ता है। तीन-चार घुमाव हैं, जहाँ मोड़ है वहाँ पन्द्रह जवान खड़े कर आया हूँ। तुम यहाँ दस आदमी छोड़कर सब को साथ ले उनसे जा मिलो। खन्दक छीनकर वहीं, जब तक दूसरा हुक्म न मिले डटे रहो। हम यहाँ रहेगा।"

"जो हुक्म।"

चुपचाप सब तैयार हो गए। बोधा भी कम्बल उतार कर चलने लगा। तब लहनासिंह ने उसे रोका। लहनासिंह आगे हुआ तो बोधा के बाप सूबेदार ने उँगली से बोधा की ओर इशारा किया। लहनासिंह समझकर चुप हो गया। पीछे दस आदमी कौन रहें, इस पर बड़ी हुज्जत हुई। कोई रहना न चाहता था। समझा-बुझाकर सूबेदार ने मार्च किया। लपटन साहब लहना की सिगड़ी के पास मुँह फेरकर खड़े हो गए और जेब से सिगरेट निकाल कर सुलगाने लगे। दस मिनट बाद उन्होंने लहना की ओर हाथ बढ़ाकर कहा—"लो, तुम भी पियो।"

"आँख मारते-मारते लहनासिंह सब समझ गया। मुँह का भाव छिपा कर बोला—"लाओ, साहब।" हाथ आगे करते ही उसने सिगड़ी के उजाले में साहब का मुँह देखा, बाल देखे, तब उसका माथा ठनका। लपटन साहब

के पट्टियों वाले बाल एक दिन में कहाँ उड़ गए और उनकी जगह कैंचियों से कटे हुये बाल कहाँ से आ गए ?

शायद साहब शराब पिये हुये हैं और बालकटवाने का मौका मिल गया है। लहनासिंह ने जाँचना चाहा। लपटन साहब पाँच वर्ष से उसकी रेजिमेंन्ट में थे।

"क्यों साहब, हम लोग हिन्दुस्तान कब जायँगे ?"

"लड़ाई खत्म होने पर। क्यों, क्या यह देश पसन्द नहीं है ?"

"नहीं साहब, शिकार के वे मजे यहाँ कहाँ ? याद है पारसाल नकली लड़ाई के पीछे हम आप जगाधरी जिले में शिकार करने गए थे—'हाँ, हाँ—वहीं जब आप खोते (=गधे) पर सवार थे और आपका खानसामा अब्दुल्ला रास्ते के एक मन्दिर में जल चढ़ाने को रह गया था ?' 'बेशक पाजी कहीं का'—'सामने से वह नील गाय निकली कि ऐसी बड़ी मैंने कभी न देखी थी। और आपकी एक गोली गन्धे में लगी और पुट्ठे में निकली। ऐसे अफसर के साथ शिकार खेलने में मजा है। क्यों साहब, शिमले से तैयार होकर उस नील गाय का सिर आ गया था न ? आपने कहा था कि रेजीमेंट की मैस में लगाएँगे। 'हो' पर मैंने वह विलायत भेज दिया, ऐसे बड़े-बड़े सींग ! दो-दो फुट के तो होंगे ?'

"हाँ, लहनासिंह, दो फुट चार इंच के थे। तुमने सिगरेट नहीं पिया ?"

"पीता हूँ साहब, दियासलाई ले आता हूँ"—कहकर लहनासिंह खन्दक में घुसा। अब उसे सन्देह नहीं रहा था। उसने चटपट निश्चय कर लिया कि क्या करना चाहिये।

अँधेरे में किसी सोने वाले से टकराया।

"कौन ? वजीरासिंह ?"

"हाँ, क्यों लहना ? क्या कयामत आ गई ? जरा तो आँख लगने दी होती ?"

(४)

"होश में आओ। कयामत आई है और लपटन साहब की वर्दी पहनकर आई है।"

"क्या"।

"लपटन साहब या तो मारे गये हैं या कैद हो गये हैं। उनकी वर्दी पहन-कर यह कोई जर्मन आया है। सूबेदार ने इसका मुँह नहीं देखा। मैंने देखा और बातें की हैं। सोहरा (= ससुरा) साफ उर्दू बोलता है, पर किताबी उर्दू और मुझे पीने को सिगरेट दिया है ?"

"तो अब ?"

"अब मारे गये। धोखा है ! सूबेदार होराँ (= जी) कीचड़ में चक्कर काटते फिरेंगे और यहाँ खाई पर धावा होगा। उधर उन पर खुले में धावा होगा। उठो, एक काम करो। पलटन के पैरों के निशान देखते-देखते दौड़ जाओ। अभी बहुत दूर न गये होंगे ! सूबेदार से कहो कि एकदम लौट आयें। खन्दक की बात झूठ है। चले जाओ, खन्दक के पीछे से निकल जाओ। पत्ता तक न खुड़के। देर मत करो।"

"हुक्म तो यह है कि यहीं............"

"ऐसी-तैसी हुक्म की ? मेरा हुक्म—जमादार लहनासिंह—जो इस वक्त यहाँ सबसे बड़ा अफसर है—उसका हुकुम है। मैं लपटन साहब की खबर लेता हूँ।"

"पर यहाँ तो तुम आठ ही हो।"

"आठ नहीं दस लाख। एक-एक अकालिया सिख सवा लाख के बराबर होता है। चले जाओ।"

लौटकर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दीवार से चिपक गया। उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से बेल के बराबर तीन गोले निकाले। तीनों को जगह-जगह खंदक की दीवारों में घुसेड़ दिया और तीनों में एक तार-सा बाँध दिया। तार के आगे सूत की एक गुत्थी थी, जिसे सिगड़ी के पास रखा। बाहर की तरफ जाकर एक दियासलाई जलाकर गुत्थी पर रखने............"

बिजली की तरह दोनों हाथों से जल्दी बन्दूक को उठाकर लहनासिंह ने साहब की कुहनी पर तानकर दे मारा। धमाके के साथ साहब के हाथ से दियासलाई गिर पड़ी। लहनासिंह ने एक कुन्दा साहब की गर्दन पर मारा और साहब 'आह माई गॉड' (= हाय मेरे राम) कहते हुये चित्त हो गये।

लहनासिंह ने तीनों गोले बीनकर खन्दक के बाहर फेंके और साहब को घसीट-कर सिगड़ी के पास लिटाया, जेबों की तलाशी ली। तीन-चार लिफाफे और डायरी निकाल उन्हें अपनी जेब के हवाले किया।

साहब की मूर्छा हटी। लहनासिंह हँस कर बोला—"क्यों लपटन साहब, मिजाज कैसा है? आज मैंने बहुत बातें सीखीं। यह सीखा कि सिख सिगरेट पीते हैं; यह सीखा कि जगाधरी के जिले में नील गायें होती हैं और उनके दो फुट चार इंच के सींग होते हैं; यह सीखा कि मुसलमान खानसामा मूर्तियों पर जल चढ़ाते हैं और लपटन साहब खोते पर चढ़ते हैं; पर यह तो कहो, ऐसी साफ उर्दू कहाँ से सीख आये? हमारे लपटन साहब तो बिना 'डेम' के पाँच लफ्ज भी नहीं बोला करते थे।"

लहना ने पतलून की जेबों की तलाशी नहीं ली थी। साहब ने मानों जाड़े से बचने के लिए, दोनों हाथ जेबों में डाले।

लहनासिंह कहता गया—"चालाक तो बड़े हो पर माँझे का लहना इतने बरस लपटन साहब के साथ रहा है। उसे चकमा देने के लिए चार आँखें चाहिये। तीन महीने हुए एक तुरकी मौलवी मेरे गाँव में आया था। औरतों को बच्चे होने के तावीज बाँटता था और बच्चों को दवाई देता था। चौधरी के बड़ के नीचे मंजा (खाट) बिछाकर हुक्का पीता रहता था और कहता था—जर्मनी वाले बड़े पण्डित हैं। वेद पढ़-पढ़कर उसमें से वे विमान चलाने की विद्या जान गए हैं, गौ को नहीं मारते, हिन्दुस्तान में आ जायेंगे तो गौ-हत्या बन्द कर देंगे। मंडी के बनियों को बहकाता था कि डाकखाने से रुपया निकाल लो, सरकार का राज्य जाने वाला है। डाक बाबू पोल्हूराम भी डर गया था। मैंने मुल्लाजी की दाढ़ी मूँड़ दी थी और गाँव से बाहर निकाल कर कहा था कि जो मेरे गाँव में अब पैर रखा तो......"

साहब की जेब से पिस्तौल चला और लहना की जाँघ में गोली लगी। इधर लहना की हेनरी मार्टिनी के दो फायरों ने साहब की कपाल-क्रिया कर दी। धमाका सुनकर सब दौड़ आये।

बोधा चिल्लाया—"क्या है?"

लहनासिंह ने उसे यह कहकर सुला दिया कि 'एक हड़का हुआ कुत्ता

आया था, मार दिया, औरों से सब हाल कह दिया। सब बन्दूकें लेकर तैयार हो गए। लहना ने साफा फाड़कर घाव के दोनों तरफ पट्टियाँ कसकर बाँधी। घाव मांस ही में था। पट्टियों के कसने से लहू निकलना बन्द हो गया।

इतने में सत्तर जर्मन चिल्लाकर खाईं में घुस पड़े। सिक्खों की बन्दूकों की बाढ़ ने पहले धावे को रोका, दूसरे को रोका, पर यहाँ थे आठ (लहनासिंह तक-तककर मार रहा था—वह खड़ा था और अन्य लेटे हुए थे) और वे सत्तर। अपने मुर्दा भाइयों के शरीर पर चढ़कर जर्मन आगे घुसे आते थे। थोड़े से मिनटों में वे—

अचानक आवाज आई, 'वाह गुरुजी दी फतह! वाह गुरुजी दा खालसा!!' और धड़ाधड़ बन्दूकों से फायर जर्मनों के पीठ पर पड़ने लगे। ऐसे मौके पर जर्मन दो चक्कों के पाटों के बीच में आ गये। पीछे से सूबेदार हजारासिंह के जवान आग बरसाते थे और सामने लहनासिंह के साथियों के संगीन चल रहे थे। पास आने पर पीछे वालों ने भी संगीन पिरोना शुरू कर दिया।

एक किलकारी और—'अकाल सिक्खा दी फौज आई! वाह गुरु जी दी फतह! वाह गुरुजी दा खालसा! सत श्री अकाल!!' और लड़ाई खतम हो गई। तिरसठ जर्मन या तो खेत रहे या कराह रहे थे। सिक्खों में पन्द्रह के प्राण गये। सूबेदार के दाहिने कंधे में गोली आर पार निकल गई। लहनासिंह की पसली में एक गोलीं लगी। उसने घाव को खन्दक की गीली मिट्टी से पूर लिया और बाकी को साफा कसकर कमरबंद की तरह लपेट लिया, किसी को खबर न हुई कि लहना को दूसरा घाव—भारी घाव लगा है।

लड़ाई के समय चाँद निकल आया था—ऐसा चाँद जिसके प्रकाश से संस्कृत कवियों का दिया 'क्षयी' नाम सार्थक होता है और हवा ऐसी चल रही थी जैसे कि वाणभट्ट की भाषा में 'दन्तवीणोपदेशाचार्य' कहलाती है। वजीरासिंह कह रहा था कि कैसे मन-मन-भर फ्रांस की भूमि मेरे बूटों से चिपक रही थी जब मैं दौड़ा-दौड़ा सूबेदार के पीछे गया था। सूबेदार लहनासिंह से सारा हाल सुन और कागजात पाकर वह उसकी तुरन्त-बुद्धि को सराह रहे थे और कह रहे थे कि तू न होता तो आज सब मारे जाते।

इस लड़ाई की आवाज तीन मील दाहिनी ओर की खाई वालों ने सुन

ली थी। उन्होंने पीछे टेलीफोन कर दिया था। वहाँ से झटपट दो डाक्टर और दो बीमार ढोने की गाड़ियाँ चलीं, जो कोई डेढ़ घण्टे के अन्दर-अन्दर आ पहुँची। फील्ड-अस्पताल नजदीक था, सुबह होते-होते वहाँ पहुँच जायेंगे, इसलिये मामूली पट्टी बाँधकर एक गाड़ी में घायल लिटाये गए और दूसरी में लाशें रखी गईं। सूबेदार ने लहनासिंह की जाँघ में पट्टी बँधवानी चाही, पर उसने यह कह कर टाल दिया कि थोड़ा घाव है, सबेरे देखा जायगा। बोधासिंह ज्वर में बर्रा रहा था, वह गाड़ी में लिटाया गया। लहना को छोड़कर सूबेदार जाते नहीं थे। यह देखकर लहना ने कहा—"तुम्हे बोधा की कसम है और सूबेदारनी जी की सौगन्ध है जो इस गाड़ी में न चले जाओ।"

"और तुम?"

"मेरे लिये वहाँ पहुँचकर गाड़ी भेज देना और जर्मन मुरदों के लिये भी तो गाड़ियाँ आती होंगी? मेरा हाल बुरा नहीं है। देखते नहीं, मैं खड़ा हूँ। वजीरासिंह मेरे पास है।"

"अच्छा पर.................."

"बोधा गाड़ी पर लेट गया, भला आप भी चढ़ जाओ। सुनिए तो, सूबेदारनी होरां को चिठ्ठी लिखो, तो मेरा माथा टेकना लिख देना और जब घर जाओ तो कह देना मुझसे जो उसने कहा था वह मैंने कर दिया।"

गाड़ियाँ चल पड़ी थीं। सूबेदार ने चढ़ते-चढ़ते लहना का हाथ पकड़कर कहा—तुमने मेरे और बोधा के प्राण बचाए हैं। लिखना कैसा? साथ ही घर चलेंगे। अपनी सूबेदारनी को तू ही कह देना। उसने क्या कहा था?"

"अब आप गाड़ी पर चढ़ जाओ। मैंने जो कहा, वह लिख देना और कह भी देना।"

गाड़ी के जाते ही लहना लेट गया—"वजीरा, पानी पिला दे और मेरा कमरबन्द खोल दे, तर हो रहा है।"

(५)

मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ हो जाती है, जन्म—भर की घटनाएँ एक-एक करके सामने आती हैं। सारे दृश्यों के रंग साफ होते हैं। समय की धुन्ध बिलकुल उन पर से हट जाती है।

× × ×

लहनासिंह बारह वर्ष का है। अमृतसर में मामा के यहाँ आया हुआ है। दही वाले के यहाँ, सब्जी वाले के यहाँ, हर कहीं, उसे एक आठ वर्ष की लड़की मिल जाती है। जब पूछता है, "तेरी कुड़माई हो गई ?" तब 'धत्' कहकर वह भाग जाती है। एक दिन उसने वैसे ही पूछा, तो उसने कहा—'हाँ, कल हो गई, देखते नहीं यह रेशम के फूलों वाला सालू !' सुनते ही लहनासिंह को दुःख हुआ, क्रोध हुआ। क्यों हुआ ?

"वजीरा सिंह पानी पिला दे।"

× × ×

पच्चीस वर्ष बीत गये। अब लहनासिंह नं० ७७ राइफल में जमादार हो गया है। उस आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही न रहा। न मालूम वह कभी मिली थी या नहीं। सात दिन की छुट्टी लेकर जमीन के मुकदमें की पैरवी करने वह अपने घर गया, वहाँ रेजिमेंट के अफसर की चिट्ठी मिली की फौज लाम पर जाती है, फौरन चले आओ। साथ सूबेदार हजारासिंह की चिट्ठी मिली कि मैं और बोधसिंह भी लाम पर जाते हैं, लौटते हुए हमारे घर होते जाना, साथ चलेंगे। सूबेदार का गाँव रास्ते में पड़ता था और सूबेदार उसे बहुत चाहता था। लहनासिंह सूबेदार के यहाँ पहुँचा।

जब चलने लगे, तब सूबेदार बेड़े (=जनाने) में से निकल कर आया। बोला—"लहना, सूबेदारनी तुमको जानती हैं, बुलाती हैं। जा मिल आ।" लहनासिंह भीतर पहुँचा। सूबेदारनी मुझे जानती हैं ? कब से ? रेजिमेण्ट के क्वार्टरों में तो कभी सूबेदार के घर के लोग रहे नहीं। दरवाजे पर जाकर 'मत्था टेकना' कहा। असीस सुनी। लहनासिंह चुप।

'मुझे पहचाना ?'

'नहीं।'

'तेरी कुड़माई हो गई—धत्—कल हो गई देखते नहीं, रेशमी बूटों वाला सालू—अमृतसर में—'

भावों की टकराहट से मूर्छा खुली। करवट बदली। पसली का घाव बह निकला।

'वजीरा, पानी पिला'—'उसने कहा था।'

× × ×

स्वप्न चल रहा है, सूबेदारनी कह रही है—"मैंने तेरे को आते ही पहचान लिया। एक काम कहती हूँ, मेरे तो भाग फूट गये। सरकार ने बहादुरी का खिताब दिया है, लायलपुर में जमीन दी है, आज नमकहलाली का मौका आया है। पर सरकार ने हम तीमियों (= स्त्रियों) की एक घँघरिया पल्टन क्यों न बना दी, जो मैं भी सूबेदार जी के साथ चली जाती? एक बेटा है। फौज में भर्ती हुये उसे एक ही बरस हुआ। उसके पीछे चार हुये, पर एक भी नहीं जिया। सूबेदारनी रोने लगी, 'अब दोनों जाते हैं। मेरे भाग! तुम्हें याद है, एक दिन टाँगे वाले का घोड़ा दही वाले की दूकान के पास बिगड़ गया था, तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाये थे। आप घोड़े की लातों में चले गए थे और मुझे उठाकर दुकान के तख्ते पर खड़ा कर दिया था। ऐसे ही इन दोनों को बचाना। यह मेरी भिक्षा है, तुम्हारे आगे मैं आँचल पसारती हूँ।'

रोती-रोती सूबेदारनी ओबरी (= अन्दर के घर) में चली गई। लहना भी आँसू पोंछता हुआ बाहर आया।

'वजीरासिंह, पानी पिला'—"उसने कहा था।"

× × ×

लहना का सिर अपनी गोद में रखे वजीरासिंह बैठा है। जब माँगता है तब पानी पिला देता है। आध घण्टे तक लहना चुप रहा, फिर बोला "कौन? कीरतसिंह?"

वजीरा ने कुछ समझकर कहा—"हाँ।"

"भइया, मुझे और ऊँचा कर ले, अपने पट्ट (= जाँघ) पर मेरा सिर रख ले।" वजीरा ने वैसे ही किया।

"हाँ, अब ठीक। पानी पिला दे। बस अब के हाड़ (= आषाढ़) में यह आम खूब फलेगा। चाचा-भतीजे दोनों यहीं बैठकर आम खाना। जितना बड़ा तेरा भतीजा है, उतना ही यह आम है। जिस महीने उसका जन्म हुआ था, उसी महीने मैंने इसे लगाया था"

वजीरासिंह के आँसू टप-टप टपक रहे थे।

× × ×

कुछ दिन पीछे लोगों ने अखबारों में पढ़ा—फ्रांस और बेलजियम—८६ वीं सूची—मैदान में घावों से मरा—नं० ७७ सिख राइफल्स जमादार लहनासिंह।

श्री प्रेमचन्द

बूढ़ी काकी

१

बुढ़ापा बहुधा बचपन का पुनरागमन हुआ करता है। बूढ़ी काकी में जिह्वा स्वाद के सिवा और कोई चेष्टा शेष न थी और न अपने कष्टों की ओर आकर्षित करने का रोने के अतिरिक्त कोई दूसरा सहारा ही। समस्त इन्द्रियाँ, नेत्र, हाथ और पैर जवाब दे चुके थे। पृथ्वी पर पड़ी रहतीं और घरवाले कोई बात उनकी इच्छा के प्रतिकूल करते, भोजन का समय टल जाता या उसका परिमाण पूर्ण न होता, अथवा बाजार से कोई वस्तु आती और उन्हें न मिलती तो वे रोने लगती थीं। उनका रोना-सिसकना साधारण रोना न था, वे गला फाड़-फाड़कर रोती थीं।

इनके पतिदेव को स्वर्ग सिधारे कालान्तर हो चुका था। बेटे तरुण हो-होकर चल बसे थे। अब एक भतीजे के सिवाय और कोई न था। उसी भतीजे के नाम उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति लिख दी थी। भतीजे ने सम्पत्ति लिखते समय तो खूब लम्बे-चौड़े वादे किये, परन्तु वे सब वादे केवल कुली डिपो के दलालों के दिखाये हुए सब्ज बाग थे। यद्यपि उस सम्पत्ति की वार्षिक आय डेढ़ दो सौ रुपये से कम न थी, तथापि बूढ़ी काकी को पेट भर भोजन भी कठिनाई से मिलता था। इसमें उनके भतीजे पण्डित बुद्धिराम

का अपराध था अथवा उनकी अर्द्धाङ्गिनी श्रीमती रूपा का, इसका निर्णय करना सहज नहीं। बुद्धिराम स्वभाव के सज्जन थे, किन्तु उसी समय तक जब तक कि उनके कोष पर कोई आँच न आये। रूपा स्वभाव से तीव्र थी सही, पर ईश्वर से डरती थी। अतएव बूढ़ी काकी को उसकी तीव्रता उतनी न खलती थी जितनी बुद्धिराम की भलमनसाहत।

बुद्धिराम को कभी-कभी अपने अत्याचार का खेद होता था। विचारते कि इसी की सम्पत्ति के कारण मैं इस समय भलामानुष बना बैठा हूँ। यदि मौखिक आवश्वासन और सूखी सहानुभूति से स्थिति में सुधार हो सकता तो उन्हें कदाचित् कोई आपत्ति न होती, परन्तु विशेष व्यय का भय उनकी सचेष्टता को दबाये रखता था। यहाँ तक कि यदि द्वार पर कोई भला आदमी बैठा होता और बूढ़ी काकी उस समय अपना राग अलापने लगतीं तो वह आग हो जाते और घर आकर उन्हें जोर से डाँटते। लड़कों को बुड्ढों से स्वाभाविक विद्वेष होता ही है और फिर जब माता-पिता का यह रंग देखते तो बूढ़ी काकी को और भी सताया करते। कोई चुटकी काटकर भागता, कोई उन पर पानी की कुल्ली कर देता। काकी चीख मार कर रोतीं परन्तु यह बात प्रसिद्ध थी कि वह केवल खाने के लिये रोती हैं, अतएव उनके संताप और आर्त्तनाद पर कोई ध्यान नहीं देता था। हाँ, काकी क्रोधातुर होकर बच्चों को गालियाँ देने लगतीं तो रूपा घटनास्थल पर अवश्य आ पहुँचती। इस भय से काकी अपनी जिह्वा-कृपाण का कदाचित् ही प्रयोग करती थीं, यद्यपि उपद्रव-शान्ति का उपाय रोने से कहीं अधिक उपयुक्त था।

सम्पूर्ण परिवार में यदि काकी से किसी को अनुराग था, तो वह बुद्धिराम की छोटी लड़की लाडली थी। लाडली अपने दोनों भाइयों के भय से अपने हिस्से की मिठाई, चबेना बूढ़ी काकी के पास बैठकर खाया करती थी। यही उसका रक्षागार था और यद्यपि काकी की शरण उनकी लोलुपता के कारण बहुत मँहगी पड़ती थी, तथापि भाइयों के अन्याय से कहीं सुलभ थी। इसी स्वार्थानुकूलता ने उन दोनों में प्रेम और सहानुभूति का आरोपण कर दिया था।

२

रात का समय था। बुद्धिराम के द्वार पर शहनाई बज रही थी और गाँव के बच्चों का झुण्ड विस्मयपूर्ण नेत्रों से गाने का रसास्वादन कर रहा था। चारपाइयों पर मेहमान विश्राम करते हुए नाइयों से मुक्कियाँ लगवा रहे थे। समीप ही खड़ा हुआ भाट विरुदावली सुना रहा था और कुछ भावज्ञ मेहमान की "वाह, वाह" पर ऐसा खुश हो रहा था मानों इस वाह-वाह का यथार्थ में वही अधिकारी है। दो-एक अँगरेजी पढ़े हुए नवयुवक इन व्यवहारों से उदासीन थे। वे इस गँवार-मण्डली में बोलना अथवा सम्मिलित होना अपनी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल समझते थे।

आज बुद्धिराम के लड़के सुखराम का तिलक आया है। यह उसी का उत्सव है। घर के भीतर स्त्रियाँ गा रही थीं और रूपा मेहमानों के लिए भोजन के प्रबन्ध में व्यस्त थी। भट्टियों पर कड़ाह चढ़े थे। एक में पूड़ियाँ-कचौड़ियाँ निकल रही थीं, दूसरे में अन्य पकवान बनते थे। एक बड़े हण्डे में मसालेदार तरकारी पक रही थी। घी और मसालेदार तरकारी की क्षुधावर्द्धक सुगंधि चारों ओर फैली हुई थी।

बूढ़ी काकी अपनी कोठरी में शोकमय विचारक की भाँति बैठी हुई थीं। वह स्वाद-मिश्रित सुगंधि उन्हें बेचैन कर रही थी। वे मन ही मन विचार कर रही थीं—सम्भवतः मुझे पूड़ियाँ न मिलेंगी। इतनी देर हो गयी, कोई भोजन लेकर नहीं आया। मालूम होता है, सब लोग भोजन कर चुके। मेरे लिये कुछ न बचा। यह सोचकर उन्हें रोना आया, परन्तु अशकुन के भय से वह रो न सकीं।

"आह! कैसी सुगन्धि है! अब मुझे कौन पूछता है? जब रोटियों के लाले पड़े हैं, तब ऐसे भाग्य कहाँ कि भर पेट पूड़ियाँ मिलें?" यह विचार कर उन्हें रोना आया; कलेजे में हूक सी उठने लगी। परन्तु रूपा के भय से उन्होंने फिर मौन धारण कर लिया।

बूढ़ी काकी देर तक इन्हीं दुःखदायक विचारों में डूबी रहीं। घी और मसालों की सुगंधि रह-रहकर मन को आपे से बाहर किये देती थी। मुँह में पानी भर-भर आता था। पूड़ियों का स्मरण करके हृदय में गुदगुदी होने

लगती। किसे पुकारूँ ? आज लाडली बेटी भी नहीं आयी। दोनों छोकड़े सदा दिक किया करते हैं, आज उनका भी कहीं पता नहीं। कुछ मालूम तो होता कि क्या बन रहा है ?

बूढ़ी काकी की कल्पना में पूड़ियों की तस्वीर नाचने लगी। खूब लाल-लाल, फूली-फूली, नरम-नरम होंगी। रूपा ने भली भाँति मोयन दिया होगा। कचौरियों में अजवाइन और इलायची की महक आ रही होगी। एक पूड़ी मिलती तो जरा हाथ में लेकर देखती। क्यों न चलकर कड़ाह के सामने बैठूँ ? पूड़ियाँ छन-छनकर तैरती होंगी, कड़ाह से नरम-नरम निकालकर थाल में रखी जाती होंगी। फूल हम घर में भी सूँघ सकते हैं, परन्तु वाटिका में कुछ और बात होती है। इस प्रकार निर्णय करके बूढ़ी काकी उकड़ूँ बैठ कर हाथ के बल सरकती हुई बड़ी कठिनाई से चौखट से उतरीं और धीरे-धीरे रेंगती हुई कड़ाह के पास आ बैठीं। यहाँ आने पर उन्हें उतना ही धैर्य हुआ जितना भूखे कुत्ते को खाने वाले के सम्मुख बैठने में होता है।

रूपा उस समम कार्य-भार से उद्विग्न हो रही थी। कभी इस कोठे में जाती, कभी उस कोठे में, कभी कड़ाह के पास आती, कभी भंडार में जाती। किसी ने बाहर से आकर कहा—"महाराज ठंढई माँग रहे हैं।" ठंढई देने लगी। इतने में फिर किसी ने आकर कहा—"भाट आया है, उसे कुछ दे दो।" भाट के लिए सीधा निकाल रही थी कि एक तीसरे आदमी ने आकर पूछा "अभी भोजन तैयार होने में कितना विलम्ब है ? जरा ढोल मजीरा उतार दो।" बेचारी अकेली स्त्री दौड़ते-दौड़ते व्याकुल हो रही थी, झुँझलाती थी, कुढ़ती थी, परन्तु क्रोध प्रकट करने का अवसर न पाती। भय होता, कहीं पड़ोसिनें यह न कहने लगें कि इतने में ही उबल पड़ी। प्यास से स्वयं उसका कण्ठ सूख रहा था। गर्मी के मारे फुँकी जाती थी, परन्तु इतना अवकाश भी नहीं था कि जरा पानी पी ले अथवा पंखा लेकर झले। यह भी खटका था कि जहाँ आँख हटी और चीजों की लूट मची। इस अवस्था में उसने बूढ़ी काकी को कड़ाह के पास बैठी देखा तो जल गयी। क्रोध न रुक सका। इसका भी ध्यान न रहा कि पड़ोसिनें बैठी हुई हैं, मन में क्या कहेंगी ? पुरुषों में लोग सुनेंगे तो क्या कहेंगे ? जिस प्रकार मेंढक केंचुये पर झपटता है, उसी

प्रकार वह बूढ़ी काकी पर झपटी और उन्हें दोनों हाथों से झटककर बोली—ऐसे पेट में आग लगे, पेट है या भाड़ ? कोठरी में बैठते हुए क्या दम घुटता था ? अभी मेहमानों ने नहीं खाया, भगवान को भोग नहीं लगा, तब तक धैर्य न हो सका ? आकर छाती पर सवार हो गयी। जल जाय ऐसी जीभ। दिन रात खाती न होती तो न जाने किसकी हाँड़ी में मुँह डालती ? गाँव देखेगा तो कहेगा कि बुढ़िया भर-पेट खाने को नहीं पाती। तभी तो इस तरह मुँह बाये फिरती हैं। डाइन, न मरे न माँचा छोड़े। नाम बेचने पर लगी है। नाक कटवाकर दम लेगी। इतना ठूँसती है, न जाने कहाँ भस्म होता है ? लो ? भला चाहती हो तो जाकर कोठरी में बैठो। जब घर के लोग खाने लगेंगे तब तुम्हें भी मिलेगा। तुम कोई देवी नहीं हो कि चाहे किसी के मुँह में पानी न जाय, परन्तु तुम्हारी पूजा पहले ही हो जाय।

बूढ़ी काकी ने सिर उठाया, न रोईं, न बोलीं। चुपचाप रेंगती हुई अपनी कोठरी में चली गयीं। आघात ऐसा कठोर था कि हृदय और मस्तिष्क की सम्पूर्ण शक्तियाँ, विचार और सम्पूर्ण भार उसी ओर आकर्षित हो गये थे। नदी में जब कगार का कोई वृहद् खण्ड कटकर गिरता है तो आस-पास का जलसमूह चारों ओर से उसी स्थान को पूरा करने के लिये दौड़ता है।

३

भोजन तैयार हो गया, आँगन में पत्तल पड़ गईं। मेहमान खाने लगे। स्त्रियों ने जेवनार-गीत गाना आरम्भ कर दिया। मेहमानों के नाई और सेवक-गण भी मण्डली के साथ, किन्तु कुछ हटकर भोजन करने बैठे थे, परन्तु सभ्यतानुसार जब तक सबके सब खा न चुकें कोई उठ नहीं सकता। दो-एक मेहमान जो कुछ पढ़े-लिखे थे सेवकों के दीर्घाहार पर झुँझला रहे थे। वे इस बन्धन को व्यर्थ और बे-सिर-पैर की बात समझते थे।

बूढ़ी काकी अपनी कोठरी में जाकर पश्चात्ताप कर रही थीं कि मैं कहाँ से कहाँ गयी। उन्हें रूपा पर क्रोध नहीं था। अपनी जल्दबाजी पर दुःख था। सच ही तो है, जब तक मेहमान लोग भोजन न कर चुकेंगे, घरवाले कैसे खायेंगे ? मुझसे इतनी देर नहीं रहा गया। सबके सामने पानी उतर गया। अब जब तक कोई बुलाने न आयेगा, न जाऊँगी।

मन-ही-मन इसी प्रकार विचार कर वह बुलाने की प्रतीक्षा करने लगीं।

परन्तु घी का रुचिकर सुवास बड़ा ही धैर्य-परीक्षक प्रतीत हो रहा था। उन्हें एक-एक पल एक-एक युग के समान मालूम होता था। अब पत्तल बिछ गई होगी। अब मेहमान आ गये होंगे। लोग हाथ-पैर धो रहे हैं, नाई पानी दे रहा है। मालूम होता है लोग खाने बैठ गये। जेवनार गाया जा रहा है, यह विचार कर वह मन को बहलाने के लिये लेट गयीं। धीरे-धीरे एक गीत गुनगुनाने लगीं। उन्हें मालूम हुआ कि मुझे गाते देर हो गई। क्या इतनी देर तक लोग भोजन कर ही रहे होंगे? किसी की आवाज नहीं सुनाई देती। अवश्य ही लोग खा पीकर चले गये। मुझे कोई बुलाने नहीं आया। रूपा चिढ़ गई है, क्या जाने न बुलाये। सोचती हो कि आप ही आवेंगी, वह कोई मेहमान तो नहीं जो उन्हें बुलाऊँ। बूढ़ी काकी चलने के लिये तैयार हुईं। यह विश्वास करके कि एक मिनट में पूड़ियाँ और मसालेदार तरकारियाँ सामने आवेंगी, उनकी स्वादेन्द्रियों को गुदगुदाने लगा। उन्होंने मन में तरह-तरह के मंसूबे बाँधे—पहले तरकारी से पूड़ियाँ खाऊँगी; फिर दही और शक्कर से, कचौरियाँ रायते के साथ मजेदार मालूम होंगी। चाहे कोई बुरा माने चाहे भला, मैं तो माँग-माँगकर खाऊँगी। यही न लोग कहेंगे कि इन्हें विचार नहीं? कहा करें, इतने दिनों के बाद पूड़ियाँ मिल रही हैं तो मुँह जूठा करके थोड़े ही उठ आऊँगी।

वह उकड़ूँ बैठकर हाथों के बल सरकती हुई आँगन में आयीं। परन्तु हाय दुर्भाग्य! अभिलाषा ने अपने पुराने स्वभाव के अनुसार समय की मिथ्या कल्पना की थी। मेहमान मण्डली अभी बैठी हुई थी। कोई खाकर ऊँगलियाँ चाटता था, कोई तिरछे नेत्रों से देखता था कि और लोग अभी खा रहे हैं या नहीं? कोई इस चिन्ता में था कि पत्तल पर पूड़ियाँ छूटी जाती हैं, किसी तरह इन्हें भीतर रख लेता। कोई दही खाकर जीभ चाटता था, परन्तु दूसरा दोना माँगते संकोच करता था कि इतने में बूढ़ी काकी रेंगती हुई उनके बीच में जा पहुँचीं। कई आदमी चौंककर उठ खड़े हुए। पुकारने लगे—अरे यह बुढ़िया कौन है? यह कहाँ से आ गयी? देखो किसी को छू न दे।

पं० बुद्धिराम काकी को देखते ही क्रोध से तिलमिला गये। पूड़ियों का थाल लिये खड़े थे। थाल को जमीन पर पटक दिया और जिस प्रकार निर्दयी महाजन अपने किसी बेईमान और भगोड़े कर्जदार को देखते ही झपट कर टेंटुआ पकड़

लेता है, उसी तरह लपक कर उन्होंने बूढ़ी काकी के दोनों हाथ पकड़े और घसीटते हुए लाकर उन्हें अँधेरी कोठरी में धम से पटक दिया। आशारूपी वाटिका लू के एक ही झोंके में नष्ट-विनष्ट हो गयी।

मेहमानों ने भोजन किया। घरवालों ने भोजन किया। बाजेवाले, धोबी, चमार भी भोजन कर चुके, परन्तु बूढ़ी काकी को किसी ने न पूछा। बुद्धिराम और रूपा दोनों ही बूढ़ी काकी को उनकी निर्लज्जता के लिए दण्ड देने का निश्चय कर चुके थे। उनके बुढ़ापे पर, दीनता पर, हत-ज्ञान पर किसी को करुणा न आती थी। अकेली लाडली उनकी उनके लिये कुढ़ रही थी।

लाडली को काकी से अत्यन्त प्रेम था। बेचारी भोली लड़की थी। बाल-विनोद और चंचलता की उसमें गन्ध तक न थी। दोनों बार जब उसके माता-पिता ने काकी को निर्दयता से घसीटा तो लाडली का हृदय ऐंठकर रह गया। वह झुँझला रही थी कि यह लोग काकी को क्यों बहुत-सी पूड़ियाँ नहीं दे देते? मेहमान क्या सब-की-सब खा जायँगे? और यदि काकी ने मेहमानों के पहले खा लिया तो क्या बिगड़ जायगा? वह काकी के पास जाकर उन्हें धैर्य देना चाहती थी, परन्तु माता के भय से न जाती थी। उसने अपने हिस्से की पूड़ियाँ बिलकुल न खायी थीं। अपनी गुड़ियों की पिटारी में बन्द कर रखी थीं। वह उन पूड़ियों को काकी के पास ले जाना चाहती थी। उसका हृदय अधीर हो रहा था। बूढ़ी काकी मेरी बात सुनते ही उठ बैठेंगी, पूड़ियाँ देखकर प्रसन्न होंगी। मुझे खूब प्यार करेंगी।

४

रात के ग्यारह बज गये थे। रूपा आँगन में पड़ी सो रही थी। लाडली की आँखों में नींद न आती थी। काकी को पूड़ियाँ खिलाने की खुशी उसे सोने न देती थी। उसने पूड़ियों की पिटारी सामने ही रखी थी। जब विश्वास हो गया कि अम्मा सो रही हैं, वह चुपके से उठी और विचारने लगी, कैसे चलूँ? चारों ओर अँधेरा था। केवल चूल्हों में आग चमक रही थी और चूल्हों के पास एक कुत्ता लेटा हुआ था। लाडली की दृष्टि द्वार के सामने वाले नीम की ओर गई। उसे मालूम हुआ कि उस पर हनुमान जी बैठे हुए हैं। उनकी पूँछ, उनकी गदा, स्पष्ट दिखलायी दे रही है। मारे भय के उसने

आँखें बन्द कर लीं, इतने में कुत्ता उठ बैठा, लाडली को ढाढ़स हुआ। सोते हुए मनुष्य के बदले एक जागता हुआ कुत्ता उसके लिए अधिक धैर्य का कारण हुआ। उसने पिटारी उठायी और बूढ़ी काकी की ओर चल दी।

बूढ़ी काकी को केवल इतना स्मरण था कि, किसी ने मेरे हाथ पकड़कर घसीटे, फिर ऐसा मालूम हुआ जैसे कोई पहाड़ पर उड़ाये लिये जाता है। उनके पैर बार-बार पत्थर से टकराये। तब किसी ने इन्हें पहाड़ पर से पटका, वे मूर्छित हो गयीं।

जब वे सचेत हुईं तो किसी की जरा भी आहट न मिलती थी। समझीं कि सब लोग खा-पीकर सो गये और उनके साथ मेरी तकदीर भी सो गयी। रात कैसे कटेगी? राम! क्या खाऊँ? पेट में अग्नि धधक रही है। हा! किसी ने मेरी सुधि न ली! क्या मेरा ही पेट काटने से धन जुड़ जायगा? इन लोगों को इतनी भी दया नहीं आती कि न जाने बुढ़िया कब मर जाय? उसका जी क्यों दुखावें? मैं पेट की रोटियाँ ही खाती हूँ कि और कुछ? इस पर यह हाल! मैं अन्धी अपाहिज ठहरी, न कुछ सुनूँ, न बूझूँ; यदि आँगन में चली गई तो क्या बुद्धिराम से इतना कहते न बनता था कि काकी, अभी लोग खा रहे हैं फिर आना। मुझे घसीटा, पटका। उन्हीं पूड़ियों के लिए रूपा ने सबके सामने गालियाँ दीं। उन्हीं पूड़ियों के लिए, इतनी दुर्गति करने पर भी उनका पत्थर का कलेजा न पसीजा। सबको खिलाया, मेरी बात न पूछी। जब तब ही न दीं, तब अब क्या देंगी?

यह विचार कर काकी निराशामय सन्तोष के साथ लेट गयीं। ग्लानि से गला भर-भर आता था, परन्तु मेहमानों के भय से रोती न थीं।

सहसा उनके कानों में आवाज आयी—'काकी' उठो; मैं पूड़ियाँ लायी हूँ।' काकी ने लाडली की बोली पहिचानी। चटपट उठ बैठीं। दोनों हाथों से लाडली को टटोला और उसे गोद में बैठा लिया। लाडली ने पूड़ियाँ निकाल कर दीं। काकी ने पूछा—क्या तुम्हारी अम्मा ने दी हैं?

लाडली ने कहा—नहीं, यह मेरे हिस्से की हैं।

काकी पूड़ियों पर टूट पड़ीं। पाँच मिनट में पिटारी खाली हो गयी। लाडली ने पूछा—काकी, पेट भर गया?

जैसे थोड़ी-सी वर्षा ठंढक के स्थान पर और भी गर्मी पैदा कर देती है, उसी भाँति इन थोड़ी-सी पूड़ियों ने काकी की क्षुधा और इच्छा को उत्तेजित कर दिया था। बोलीं—नहीं बेटा, जाकर अम्मा से और माँग लाओ।

लाडली ने कहा—अम्मा सोती हैं, जगाऊँगी तो मारेंगी।

काकी ने पिटारी को फिर टटोला। उसमें कुछ खुर्चन गिरे थे। उन्हें निकालकर वे खा गयीं। बार-बार होंठ चाटती थीं। चटखारें भरती थीं।

हृदय मसोस रहा था कि और पूड़ियाँ कैसे पाऊँ। सन्तोष-सेतु जब टूट जाता है तब इच्छा का बहाव अपरिमित हो जाता है। मतवालों को मद का स्मरण कराना उन्हें मदान्ध बनाता है। काकी का अधीर मन इच्छा के प्रबल प्रवाह में बह गया। उचित और अनुचित का विचार जाता रहा। वे कुछ देर तक उस इच्छा को रोकती रहीं। सहसा लाडली से बोलीं—मेरा हाथ पकड़ कर वहाँ ले चलो जहाँ मेहमानों ने बैठकर भोजन किया है।

लाडली उनका अभिप्राय समझ न सकी। उसने काकी का हाथ पकड़ा और ले जाकर जूठे पत्तलों के पास बैठा दिया। दीन, क्षुधातुर, हत-ज्ञान बुढ़िया पत्तलों से पूड़ियों के टुकड़े चुन-चुनकर भक्षण करने लगी। आह! दही कितना स्वादिष्ट था, कचौरियाँ कितनी सलौनी, खस्ता कितनी सुकोमल! काकी बुद्धिहीन होती हुई भी इतना जानती थीं कि मैं वह काम कर रही हूँ जो मुझे कदापि न करना चाहिए। मैं दूसरों की जूठी पत्तल चाट रही हूँ। परन्तु बुढ़ापा, तृष्णा-रोग का अन्तिम-समय है, जब सम्पूर्ण इच्छायें एक ही केन्द्र पर आ लगती हैं। बूढ़ी काकी में यह केन्द्र उनकी स्वादेन्द्रिय थी।

ठीक उसी समय रूपा की आँखें खुलीं। उसे मालूम हुआ—लाडली मेरे पास नहीं है। वह चौंकी, चारपाई के इधर-उधर ताकने लगी कि कहीं नीचे तो नहीं गिर पड़ी। उसे वहाँ न पाकर वह उठ बैठी तो क्या देखती है कि लाडली जूठे पत्तलों के पास चुपचाप खड़ी है और बूढ़ी काकी पत्तलों पर से पूड़ियों के टुकड़े उठा-उठाकर खा रही हैं। रूपा का हृदय सन्न हो गया। किसी की गर्दन पर छुरी चलते देखकर जो अवस्था उसकी होती, वही उस समय हुई। एक ब्राह्मणी दूसरों की जूठी पत्तल टटोले, इससे अधिक शोकमय दृश्य

असम्भव था। पूड़ियों के कुछ ग्रासों के लिए उसकी चचेरी सास ऐसा पतित और निकृष्ट कर्म कर रही है। यह वह दृश्य था जिसे देखकर देखने वालों के हृदय काँप उठते हैं। ऐसे प्रतीत होता था मानों जमीन तक खिसक गयी, आसमान चक्कर खा रहा है। संसार पर कोई विपत्ति आने वाली है। रूपा को क्रोध न आया। शोक के सम्मुख क्रोध कहाँ ? करुणा और भय से उसकी आँखें भर आयीं। इस अधर्म के पाप का भागी कौन ? उसने सच्चे हृदय से गगनमण्डल की ओर हाथ उठाकर कहा—परमात्मा, मेरे बच्चों पर दया करो, इस अधर्म का दंड मुझे मत दो, नहीं तो मेरा सत्यानाश हो जायगा।

रूपा को अपनी स्वार्थपरता और अन्याय इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप में कभी न देख पड़े थे। वह सोचने लगी—हाय ! कितनी निर्दय हूँ ! जिसकी सम्पत्ति से मुझे दो सौ रुपया वार्षिक आय हो रही है, उसकी यह दुर्गति ! और मेरे कारण !! हे दयामय भगवान ! मुझसे बड़ी भारी चूक हुई है, मुझे क्षमा करो। आज मेरे बेटे का तिलक था। सैकड़ों मनुष्यों ने भोजन पाया। मैं उनके इशारों की दासी बनी रही। अपने नाम के लिए सैकड़ों रुपये व्यय कर दिये, परन्तु जिसकी बदौलत हजारों रुपये खाये, उसे इस उत्सव में भी भर पेट भोजन न दे सकी। केवल इसी कारण तो कि वह वृद्धा असहाय है।

रूपा ने दिया जलाया, अपने भंडार का द्वार खोला और एक थाल में सम्पूर्ण सामग्रियाँ सजाकर लिए हुए बूढ़ी काकी की ओर चली।

आधी रात जा चुकी थी, आकाश पर तारों के थाल सजे हुए थे और उन पर बैठे हुए देवगण स्वर्गीय पदार्थ सजा रहे थे, परन्तु उनमें किसी को वह परमात्मा प्राप्त न हो सकता था जो बूढ़ी काकी को अपने सम्मुख थाल लेकर प्राप्त हुआ। रूपा ने कण्ठावरुद्ध स्वर में कहा—काकी उठो, भोजन कर लो। मुझसे आज बड़ी भूल हुई, उसको बुरा न मानना। परमात्मा से प्रार्थना कर दो कि वह मेरा अपराध क्षमा कर दे।

भोले-भाले बच्चों की भाँति, जो मिठाइयाँ पाकर मार और तिरस्कार सब भूल जाते हैं, बूढ़ी काकी वैसे ही सब भुला कर बैठी हुई खाना खा रही थीं। उनके एक-एक रोयें से सच्ची सदिच्छायें निकल रही थीं और रूपा बैठी इस स्वर्गीय दृश्य का आनन्द लूटने में निमग्न थी।

श्री जय शंकर प्रसाद

आकाश दीप

"वन्दी !"

"क्या है ! सोने दो।"

"मुक्त होना चाहते हो ?"

"अभी नहीं, निद्रा खुलने पर, चुप रहो।"

"फिर अवसर न मिलेगा।"

"वड़ा शीत है, कहीं से एक कम्बल डालकर कोई शीत से मुक्त करता।"

"आँधी की सम्भावना है। यही अवसर है। आज मेरे बन्धन शिथिल हैं।"

"तो क्या तुम भी बन्दी हो ?"

"हाँ, धीरे बोलो, इस नाव पर केवल दस नाविक और प्रहरी हैं।"

"शस्त्र मिलेगा ?"

"मिल जायगा। पोत से सम्बद्ध रज्जु काट सकोगे ?"

"हाँ।"

समुद्र में हिलोरें उठने लगीं। दोनों आपस में टकराने लगे। पहले बन्दी

ने अपने को स्वतन्त्र कर लिया। दूसरे का बन्धन खोलने का प्रयत्न करने लगा। लहरों के धक्के एक दूसरे को स्पर्श से पुलकित कर रहे थे। मुक्ति की आशा— स्नेह का असम्भावित आलिंगन। दोनों ही अन्धकार में मुक्त हो गए। दूसरे वन्दी ने हर्षातिरेक से उसको गले से लगा लिया। सहसा उस वन्दी ने कहा— "यह क्या ? तुम स्त्री हो ?"

"क्या स्त्री होना कोई पाप है ?" अपने को अलग करती हुई स्त्री ने कहा।

"शस्त्र कहाँ है ? तुम्हारा नाम ?"

"चम्पा।"

'तारक-खचित नील अम्बर और नील समुद्र के अवकाश में पवन ऊधम मचा रहा था। अन्धकार से मिलकर पवन दुष्ट हो रहा था। समुद्र में आन्दोलन था। नौका लहरों में विकल थी। स्त्री सतर्कता से लुढ़कने लगी। एक मतवाले नाविक के शरीर से लटकती हुई सावधानी से उसका कृपाण निकाल कर फिर लुढ़कती हुई, वन्दी के समीप पहुँच गई। सहसा पोत से पथदर्शक ने चिल्ला कर कहा— "आँधी।"

आपत्तिसूचक तूर्य बजने लगा। सब सावधान होने लगे। वन्दी युवक उसी तरह पड़ा रहा। किसी ने रस्सी पकड़ी, कोई पाल खोल रहा था। पर युवक वन्दी लुढ़ककर उस रज्जु के पास पहुँचा जो पोत से संलग्न थी। तारे ढँक गए। तरंगें उद्वेलित हुईं। समुद्र गरजने लगा। भीषण आँधी पिशाचिनी के समान नाव को अपने हाथों में लेकर कन्दुक-क्रीड़ा और अट्टहास करने लगी।

एक झटके के साथ ही नाव स्वतन्त्र थी। उस संकट में भी दोनों वन्दी खिलखिलाकर हँस पड़े। आँधी के हाहाकार में उसे कोई न सुन सका।

(२)

अनन्त जलनिधि में उषा का मधुर आलोक फूट उठा। सुनहली किरणों और लहरों की कोमल सृष्टि मुस्कराने लगी। सागर शान्त था नाविकों ने देखा, पोत का पता नहीं। वन्दी मुक्त हैं।

नायक ने कहा—"बुद्धगुप्त ! तुमको मुक्त किसने किया ?"

कृपाण दिखाकर बुद्धगुप्त ने कहा—"इसने ।"

नायक ने कहा—"तो तुम्हें फिर वन्दी बनाऊँगा ।"

किसके लिए ? पोताध्यक्ष मणिभद्र अतल जल में होगा—नायक ! अब इस नौका का स्वामी मैं हूँ !"

"तुम, जलदस्यु बुद्धगुप्त ? कदापि नहीं", चौंककर नायक ने कहा और अपना कृपाण टटोलने लगा । चम्पा ने इसके पहले उस पर अधिकार कर लिया था । वह क्रोध से उछल पड़ा ।

"तो तुम द्वन्द्वयुग के लिये प्रस्तुत हो जाओ, जो विजयी होगा, वही स्वामी होगा ।" इतना कह बुद्धगुप्त ने अपना कृपाण देने का संकेत किया । चम्पा ने कृपाण नायक के हाथ में दे दिया ।

भीषण घात-प्रतिघात आरम्भ हुआ । दोनों कुशल, दोनों त्वरित गतिवाले थे । बड़ी निपुणता से बुद्धगुप्त ने अपना कृपाण दाँतों से पकड़ कर अपने दोनों हाथ स्वतन्त्र कर लिये । चम्पा भय और विस्मय से देखने लगी । नाविक प्रसन्न हो गये, परन्तु बुद्धगुप्त ने लाघव से नाविक का कृपाण वाला हाथ पकड़ लिया और विकट हुँकार से दूसरा हाथ कटि में डाल, उसे गिरा दिया । दूसरे ही क्षण प्रभात की किरणों में बुद्धगुप्त का विजयी कृपाण उसके हाथों में चमक उठा । नायक की कातर आँखें प्राण-भिक्षा माँगने लगीं ।

बुद्धगुप्त ने कहा—"बोलो, अब स्वीकार है कि नहीं ?"

"मैं अनुचर हूँ, वरुणदेव की शपथ । मैं विश्वासघात न करूँगा ।"

बुद्धगुप्त ने छोड़ दिया ।

चम्पा ने युवक जलदस्यु के समीप आकर उसके क्षतों को अपनी स्निग्ध दृष्टि और कोमल करों से वेदना-विहीन कर दिया । बुद्धगुप्त के सुगठित शरीर पर रक्त-विन्दु विजय-तिलक कर रहे थे ।

विश्राम लेकर बुद्धगुप्त ने पूछा—'हम लोग कहाँ होंगे ?"

"बालीद्वीप से बहुत दूर; संभवतः एक नवीन द्वीप के पास, जिसमें अभी हम लोगों का बहुत कम आना-जाना होता है । सिंहल के वणिकों का वहाँ प्राधान्य है ।"

"कितने दिनों में हम लोग वहाँ पहुँचेंगे ?"

"अनुकूल पवन मिलने पर दो दिन में। तब तक के लिए खाद्य का अभाव न होगा।"

सहसा नायक ने नाविकों को डाँड लगाने की आज्ञा दी और स्वयं पतवार पकड़ कर बैठ गया। बुद्धगुप्त के पूछने पर उसने कहा—"यहाँ एक जलमग्न शैलखंड है। सावधान न रहने से नाव के टकराने का भय है।"

२

"तुम्हें इन लोगों ने बन्दी क्यों बनाया ?"

"वणिक मणिभद्र की पाप वासना ने।"

"तुम्हारा घर कहाँ है ?"

"जाह्नवी के तट पर, चम्पा-नगरी की एक क्षत्रिय बालिका हूँ। पिता इसी मणिभद्र के यहाँ प्रहरी का काम करते थे। माता का देहावसान हो जाने के बाद मैं भी पिता के साथ नाव पर ही रहने लगी। आठ बरस से समुद्र ही मेरा घर है। तुम्हारे आक्रमण के साथ मेरे पिता ने ही सात दस्युओं को मार कर जल-समाधि ली। एक मास हुआ, मैं इस नील नभ के नीचे, नील जलनिधि के ऊपर, एक भयानक अनन्तता में निस्सहाय हूँ। अनाथ हूँ। मणिभद्र ने मुझसे एक दिन घृणित प्रस्ताव किया। मैंने उसे गालियाँ सुनाईं, उसी दिन से बन्दी बना दी गई।"

चम्पा रोष से जल रही थी।

"मैं भी ताम्रलिप्त का एक क्षत्रिय हूँ। चम्पा ! परन्तु दुर्भाग्य से जलदस्यु बनकर जीवन बिताता हूँ। अब तुम क्या करोगी ?"

"मैं अपने अदृष्ट को अनिर्दिष्ट ही रहने दूँगी। वह जहाँ ले जाय।"—चम्पा की आँखें निस्सीम प्रदेश में निरुद्देश्य थीं। किसी आकांक्षा के लाल डोरे न थे। धवल अपांग में बालकों के सदृश विश्वास था। हत्या-व्यवसायी दस्यु भी उसे देखकर काँप गया। उसके मन में एक सम्भ्रमपूर्ण श्रद्धा यौवन की पहली लहरों को जगाने लगी। समुद्र-वक्ष पर विलम्बमयी राग-रंजित सन्ध्या थिरकने लगी। चम्पा के असंयत कुन्तल उसकी पीठ पर बिखरे थे।

दुर्दान्त दस्यु ने देखा, अपनी महिमा में अलौकिक एक वरुण-बालिका ! वह विस्मय से अपने हृदय को टटोलने लगा। उसे एक नई वस्तु का पता चला, वह थी—"कोमलता ?"

उसी समय नायक ने कहा—हम लोग द्वीप के पास पहुँच गए।"

बेला से नाव टकराई। चम्पा निर्भीकता से कूद पड़ी। माँझी भी उतरे। बुद्धगुप्त ने कहा—"जब इसका कोई नाम नहीं है तो हम लोग इसे चम्पा द्वीप कहेंगे।"

चम्पा हँस पड़ी।

(४)

पाँच बरस बाद—

शरद के धवल नक्षत्र नील गगन में झलमला रहे थे। चन्द्र के उज्ज्वल विजय पर अन्तरिक्ष में शरद-लक्ष्मी ने आशीर्वाद के फूलों और खीलों को बिखेर दिया।

चम्पा के एक उच्च सौध पर बैठी हुई तरुणी चम्पा दीपक जला रही थी। बड़े यत्न से अभ्रक की मंजूषा में दीप धर कर उसने अपनी सुकुमार उँगलियों से डोरी खींची। वह दीपाधार ऊपर चढ़ने लगा। भोली-भोली आँखें उसे ऊपर चढ़ते बड़े हर्ष से देख रही थीं। डोरी धीरे-धीरे खींची गई। चम्पा की कामना थी कि उसका आकाश-दीप नक्षत्रों से हिलमिल जाय, किन्तु वैसा होना असम्भव था। उसने आशा भरी आँखें फिरा लीं।

सामने जल-राशि का रजत शृङ्गार था। वरुण-बालिकाओं के लिए लहरों से हीरे और नीलम की क्रीड़ा शैलमालाएँ बना रही थीं और वे मायाविनी छलनाएँ अपनी हँसी का कलनाद छोड़ कर छिप जाती थीं। दूर-दूर से धीवरों की वंशी की झनकार उनके संगीत-सा मुखरित होता था। चम्पा ने देखा कि तरल संकुल जल-राशि में उसके कण्डील का प्रतिबिम्ब अस्त-व्यस्त था। वह अपनी पूर्णता के लिए सैकड़ों चक्कर काटता था। वह अनमनी होकर उठ खड़ी हुई। किसी को पास न देखकर पुकारा—'जया !'

एक श्यामा युवती सामने आकर खड़ी हुई। जंगली थी। नील-नभो-मंडल-से मुख में शुभ्र नक्षत्रों की पंक्ति के समान उसके दाँत हँसते ही रहते। वह चम्पा को रानी कहती; बुद्धगुप्त की आज्ञा थी।

"महानाविक कब तक आवेंगे, बाहर पूछो तो।" चम्पा ने कहा, जया चली गई।

दूरागत-पवन चम्पा के अंचल में विश्राम लेना चाहता था। उसके हृदय में गुदगुदी हो रही थी। आज न जाने क्यों वह बेसुध थी। एक दीर्घकाय दृढ़ पुरुष ने उसकी पीठ पर हाथ रखकर उसे चमत्कृत कर दिया। उसने फिर कर कहा—"बुद्धगुप्त!"

"बावली हो क्या? यहाँ बैठी हुई अभी तक दीप जला रही हो, तुम्हें यह काम करना है?"

"क्षीर-निधिशायी अनन्त की प्रसन्नता के लिये क्या दासियों से आकाश-दीप जलवाऊँ?"

"हँसी आती है, किसको दीप जला कर पथ दिखलाना चाहती हो? उसको तुमने भगवान मान लिया है?"

"हाँ वह भी कभी भटकते हैं, भूलते हैं; नहीं तो बुद्धगुप्त को इतना ऐश्वर्य क्यों देते?"

"तो बुरा क्या हुआ, इस दीप की अधीश्वरी चम्पा रानी?"

"मुझे इस बन्दी-गृह से मुक्त करो। अब तो बाली, जावा और सुमात्रा का वाणिज्य केवल तुम्हारे ही अधिकार में है महानाविक। परन्तु मुझे उन दिनों की स्मृति सुहावनी लगती है, जब तुम्हारे पास एक ही नाव थी और चम्पा के उपकूल में पण्य लादकर हम लोग सुखी जीवन बिताते थे। इस जल में अगणित बार हम लोगों की तरी आलोकमय प्रभात में—तारिकाओं की मधुर ज्योति में—थिरकती थी! बुद्धगुप्त! उस विजन अनन्त में जब माझी सो जाते थे, दीपक बुझ जाते थे, हम तुम परिश्रम से थक कर पालों में शरीर लपेट कर एक दूसरे का मुँह क्यों देखते थे? वह नक्षत्रों की मधुर छाया—"

"तो चम्पा! अब उससे भी अच्छे ढंग से हम लोग विचर सकते हैं। तुम मेरी प्राणदात्री हो, मेरी सर्वस्व हो।"

"नहीं-नहीं, तुमने दस्युवृत्ति तो छोड़ दी, परन्तु हृदय वैसा ही अकरुण सतृष्ण और ज्वलनशील है। तुम भगवान के नाम पर हँसी उड़ाते हो। तुम मेरे आकाश-दीप पर व्यङ्ग कर रहे हो। नाविक! उस प्रचंड आँधी में प्रकाश

की एक-एक किरण के लिए हम लोग कितने व्याकुल थे। मुझे स्मरण है जब मैं छोटी थी मेरे पिता नौकरी पर समुद्र में जाते थे-- मेरी माता मिट्टी का दीपक बाँस की पिटारी में जलाकर भागीरथी के तट पर बाँस के साथ ऊँचे टाँग देती थीं। इस समय वह प्रार्थना करतीं—"भगवान्! मेरे पथ-भ्रष्ट नाविक को अंधकार में ठीक पथ पर ले चलना।" और जब मेरे पिता बरसों बाद घर लौटते तो कहते—"साध्वी! तेरी प्रार्थना से भगवान् ने भयानक संकटों में मेरी रक्षा की है!" वह गद्गद् हो जातीं। मेरी माँ! आह नाविक! यह उसी की स्मृति है। मेरे पिता—वीर पिता—की मृत्यु के निष्ठुर कारण जलदस्यु! हट जाओ!" सहसा चम्पा का मुख क्रोध से भीषण होकर रङ्ग बदलने लगा। महानाविक ने कभी यह रूप न देखा था, वह ठठाकर हँस पड़ा।

"यह क्या चम्पा! तुम अस्वस्थ हो जाओगी, सो रहो।"—कहता हुआ चला गया। चम्पा मुट्ठी बाँधे उन्मादिनी-सी घूमती रही।

(५)

निर्जन समुद्र के उपकूल में बेला से टकरा कर लहरें बिखर जाती हैं। पश्चिम का पथिक थक गया था, उसका मुख पीला पड़ गया। अपनी शान्त गम्भीर हलचल में जलनिधि विचार में निमग्न था। वह जैसे प्रकाश की उन्मलिन किरणों से विरक्त था।

चम्पा और जया धीरे-धीरे उस तट पर आकर खड़ी हो गईं। तरङ्ग से उठते पवन ने उनके वसन को अस्त-व्यस्त कर दिया। जया के संकेत से एक छोटी-सी नौका आई। दोनों के उस पर बैठते ही नाविक उतर गया। जया नाव खेने लगी। चम्पा मुग्ध-सी समुद्र के उदास वातावरण में अपने को मिश्रित कर देना चाहती थी।

इतना जल! इतनी शीतलता! हृदय की प्यास न बुझी। पी सकूँगी? नहीं। तो जैसे बेला से चोट खाकर सिन्धु चिल्ला उठता है, उसी के समान रोदन करूँ। या जलते हुए स्वर्ण-गोलक सदृश अनन्त में डूब कर बुझ जाऊँ!" चम्पा के देखते-देखते पीड़ा और ज्वलन से आरक्त बिम्ब धीरे-धीरे सिन्धु में, चौथाई—आधा फिर सम्पूर्ण विलीन हो गया। एक दीर्घ-निःश्वास लेकर चम्पा ने मुँह फिरा लिया। देखा तो महानाविक का बजरा

उसके पास है। बुद्धगुप्त ने झुक कर हाथ बढ़ाया। चम्पा उसके सहारे बजरे पर चढ़ गई। दोनों पास-पास बैठ गये।

"इतनी छोटी नाव पर इधर घूमना ठीक नहीं। पास ही वह जलमग्न शैलखंड है। कहीं नाव टकरा जाती या ऊपर चढ़ जाती जम्पा, तो ?"

"अच्छा होता बुद्धगुप्त! जल में बन्दी होना कठोर प्राचीरों से तो अच्छा है।"

"आह चम्पा, तुम कितनी निर्दयी हो! बुद्धगुप्त को आज्ञा देकर देखो तो वह क्या नहीं कर सकता। जो तुम्हारे लिए नए द्वीप की सृष्टि कर सकता है, नई प्रजा खोज सकता है, नए राज्य बना सकता है, उसकी परीक्षा लेकर देखो तो...। कहो चम्पा! वह कृपाण से अपना हृदय-पिण्ड निकाल अपने हाथों अतल जल में विसर्जन कर दे!" महानाविक—जिसके नाम से बाली, जावा और चम्पा का आकाश गूँजता था, पवन थर्राता था—घुटनों के बल चम्पा के सामने छलछलाई आँखों से बैठा था।

सामने शैलमाला की चोटी पर, हरियाली में विस्तृत जल-प्रदेश में नील-पिंगल संध्या, प्रकृति की एक सहृदय कल्पना, विश्राम की शीतल छाया स्वप्नलोक का सृजन करने लगी। उस मोहनी के रहस्यपूर्ण नीलजाल का कुहक स्फुट हो गया। जैसे मदिरा से सारा अंतरिक्ष सिक्त हो गया। दृष्टि नील कमलों से भर उठी। उस सौरभ से पागल चम्पा ने बुद्धगुप्त के दोनों हाथ पकड़ लिए। वहाँ एक आलिङ्गन हुआ, जैसे क्षितिज में आकाश और सिन्धु का। किन्तु उस परिरम्भ में सहसा चैतन्य होकर चम्पा ने अपनी कंचुकी से एक कृपाण निकाल लिया।

"बुद्धगुप्त! आज मैं अपना प्रतिशोध का कृपाण अतल जल में डुबा देती हूँ। हृदय ने छल किया, बार-बार धोखा दिया!"—चमक कर वह कृपाण समुद्र का हृदय बेधता हुआ विलीन हो गया।

"तो आज मैं विश्वास करूँ? मैं क्षमा कर दिया गया?"—आश्चर्य-कम्पित कंठ से महानाविक ने पूछा।

"विश्वास! कदापि नहीं बुद्धगुप्त! जब मैं अपने हृदय पर विश्वास

नहीं कर सकी, उसी ने धोखा दिया, तब मैं कैसे कहूँ ? मैं तुम्हें घृणा करती हूँ, फिर भी तुम्हारे लिए मर सकती हूँ। अंधेर है जलदस्यु ! तुम्हें प्यार करती हूँ"। चम्पा रो पड़ी।

वह स्वप्नों की रंगीन संध्या, तम से अपनी आँखें बन्द करने लगी थी। दीर्घ निःश्वास लेकर महानाविक ने कहा—"इस जीवन की पुण्यतम घड़ी की स्मृति में एक प्रकाश-गृह बनाऊँगा चम्पा ! यहीं उस पहाड़ी पर। सम्भव है कि मेरे जीवन की धुँधली संध्या उससे आलोक-पूर्ण हो जाय।"

(६)

चम्पा के दूसरे भाग में एक मनोरम शैलमाला थी वह बहुत दूर तक सिन्धु-जल में निमग्न थी। सागर का चंचल जल उस पर उछलता हुआ उसे छिपाये था। आज उसी शैलमाला पर चम्पा के आदि निवासियों का समारोह था। उन सबों ने चम्पा को वन-देवी सा सजाया था। ताम्रलिप्ति के बहुत से सैनिकों और नाविकों की श्रेणी में वन-कुसुम-विभूषिता-चम्पा शिविकारूढ़ होकर जा रही थी।

शैल के एक ऊँचे शिखर पर चम्पा के नाविकों को सावधान करने के लिए सुदृढ़ दीप-स्तम्भ बनवाया गया था। आज उसी का महोत्सव है। बुद्धगुप्त स्तम्भ के द्वार पर खड़ा था। शिविका से सहायता देकर चम्पा को उसने उतारा। दोनों ने भीतर पदार्पण किया था कि बाँसुरी और ढोल बजने लगे। पंक्तियों में कुसुम-भूषण से सजी वन-बालाएँ फूल उछालती हुई नाचने लगीं।

दीप-स्तम्भ की ऊपरी खिड़की से यह देखती हुई चम्पा ने जया से पूछा—"यह क्या है जया ?—इतनी बालिकाएँ कहाँ से बटोर लाई ?"

"आज रानी का ब्याह है न !"—कह कर जया ने हँस दिया।

बुद्धगुप्त विस्तृत जलनिधि की ओर देख रहा था। उसे झकझोर कर चम्पा ने पूछा—"क्या यह सच है ?"

"यदि तुम्हारी इच्छा हो तो यह सच भी हो सकता है। चम्पा ! कितने वर्षों से मैं ज्वालामुखी को अपनी छाती से दबाए हूँ।"

"चुप रहो महा नाविक ! क्या मुझे निस्सहाय और कंगाल बनाकर तुमने आज सब प्रतिशोध लेना चाहा ?"

"मैं तुम्हारे पिता का घातक नहीं हूँ चम्पा ! वह एक दूसरे दस्यु के शस्त्र से मरे।"

यदि मैं इसका विश्वास कर सकती ! बुद्धगुप्त, वह दिन कितना सुन्दर होता ! वह क्षण कितना स्पृहणीय ! आह ! तुम इस निष्ठुरता में भी कितने महान् होते ?

जया नीचे चली गई थी। स्तम्भ के संकीर्ण प्रकोष्ठ में बुद्धगुप्त और चम्पा एकांत में एक दूसरे के सामने बैठे थे।

बुद्धगुप्त ने चम्पा के पैर पकड़ लिए। उच्छ्वसित शब्दों में वह कहने लगा---"चम्पा ! हम लोग जन्मभूमि भारत से इतनी दूर निरीह प्राणियों में इन्द्र और शची के समान पूजित हैं। पर न जाने कौन अभिशाप हम लोगों को अभी तक अलग किए हैं। स्मरण होता है, वह दार्शनिकों का देश ! वह महिमा की प्रतिमा ! मुझे वह स्मृति नित्य आकर्षित करती है, परंतु मैं क्यों नहीं जाता ? जानती हो, इतना महत्व प्राप्त करने पर भी मैं कंगाल हूँ ! मेरा पत्थर-सा हृदय एक दिन सहसा तुम्हारे स्पर्श से चंद्राकान्त मणि की तरह द्रवित हुआ।

"चम्पा ! मैं ईश्वर को नहीं मानता, मैं पाप को नहीं मानता, मैं दया को नहीं समझ सकता, मैं उस लोक में विश्वास नहीं करता, पर मुझे अपने हृदय के एक दुर्बल अंश पर श्रद्धा हो चली है। तुम न जाने कैसे एक बहकी हुई तारिका के समान मेरे शून्य में उदित हो गई ! आलोक की एक कोमल रेखा इस निविड़तम में मुस्कराने लगी। पशु-बल और धन के उपासक के मन में किसी शान्त और कान्त कामना की हँसी खिलखिलाने लगी; पर मैं न हँस सका।

"चलो चम्पा ! पोतवाहिनी पर असंख्य धन-राशि लाद कर राजरानी जन्मभूमि के अंक में। आज हमारा परिणय हो, कल ही हम लोग भारत के लिए प्रस्थान करें। महानाविक बुद्धगुप्त की आज्ञा सिन्धु की लहरें मानती हैं। वे स्वयं उस पोत-पुंज को दक्षिण पवन के समान भारत में पहुँचा देंगी। आह चम्पा ! चलो !"

चम्पा ने उसके हाथ पकड़ लिए। किसी आकस्मिक झटके ने एक पल

भर के लिए दोनों के अधरों को मिला दिया। सहसा चैतन्य होकर चम्पा ने कहा—"बुद्धगुप्त ! मेरे लिए सब भूमि मिट्टी है, सब जल तरल है, सब पवन शीतल है। कोई विशेष आकांक्षा हृदय में अग्नि के समान प्रज्ज्वलित नहीं। सब मिलाकर मेरे लिए शून्य है। प्रिय नाविक ! तुम स्वदेश लौट जाओ विभवों का सुख भोगने के लिए और मुझे छोड़ दो इन निरीह भोले-भाले प्राणियों के दुःख में सहानुभूति और सेवा के लिए।"

"तब मैं अवश्य चला जाऊँगा, चम्पा ! यहाँ रह कर मैं अपने हृदय पर अधिकार रख सकूँगा—इसमें सन्देह है। आह ! किन लहरों में मेरा विनाश हो जाय ?" महानाविक के उच्छ्वास में विकलता थी। फिर उसने पूछा—"तुम अकेली यहाँ क्या करोगी ?"

"पहले विचार था कि कभी-कभी इसी दीप-स्तम्भ पर से आलोक जला कर अपने पिता की समाधि का इस जल में अन्वेषण करूँगी, किन्तु देखती हूँ, मुझे भी इसी में जलना होगा, जैसे आकाश-दीप।"

(७)

एक दिन स्वर्ण-रहस्य के प्रभात में चम्पा ने अपने दीप-स्तम्भ पर से देखा—सामुद्रिक नावों की एक श्रेणी चम्पा का उपकूल छोड़ कर पश्चिम-उत्तर की ओर महाजल-व्याल के समान संतरण कर रही है। उसकी आँखों से आँसू बहने लगे।

यह कितनी ही शताब्दियों पहले की कथा है। चम्पा आजीवन उस दीप-स्तम्भ में आलोक जलाती ही रही। किन्तु उसके वाद भी बहुत दिन, द्वीप-निवासी, उस माया-ममता और स्नेह-सेवा की देवी की समाधि-सदृश उसकी पूजा करते थे।

एक दिन काल के कठोर हाथों ने उसे भी अपनी चंचलता से गिरा दिया।

———

सरस्वती का भाई घनश्याम है
और घनश्याम का मित्र
अमरनाथ है।

श्री विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक'

रक्षा-बंधन

"माँ, मैं भी राखी बाँधूँगी।"

श्रावण की धूमधाम है। नगरवासी स्त्री-पुरुष बड़े आनन्द तथा उत्साह से श्रावण का उत्सव मना रहे हैं। बहनें भाइयों के और ब्राह्मण अपने यजमानों के राखियाँ बाँधकर चाँदी कर रहे हैं। ऐसे ही समय एक छोटे से घर में एक दस वर्ष की बालिका ने अपनी माता से कहा—माँ, मैं भी राखी बाँधूँगी।

उत्तर में माता ने एक ठंडी साँस भरी और कहा—किसके बाँधेगी बेटी? आज तेरा भाई होता तो ···।

माता आगे कुछ न कह सकी। उसका गला रुँध गया और नेत्र अश्रु-पूर्ण हो गये।

अबोध बालिका ने अठलाकार कहा—तो क्या भैया ही के राखी बाँधी जाती है? और किसी के नहीं? भैया नहीं तो अम्मा, मैं तुम्हारे ही राखी बाँधूँगी।

इस दुःख के समय भी पुत्री की बात सुनकर माता मुस्कराने लगी और बोली—अरी तू इतनी बड़ी हो गई—भला कहीं माँ के भी राखी बाँधी जाती है?

बालिका ने कहा—वाह, जो पैसा दे उसी के राखी बाँधी जाती है।

माता—अरी पगली ! पैसा भर नहीं—भाई ही के राखी बाँधी जाती है। बालिका उदास हो गई।

माता घर का काम-काज करने लगी। घर का काम शेष करके उसने पुत्री से कहा—आ तुझे निहला (नहला) दूँ।

बालिका मुख गम्भीर करके बोली—मैं नहीं नहाऊँगी।

माता—क्यों, नहावेगी क्यों नहीं ?

बालिका—मुझे क्या किसी के राखी बाँधनी है ?

माता—अरी, राखी नहीं बाँधनी है तो क्या नहावेगी भी नहीं। आज त्योहार का दिन है। चल उठ नहा।

बालिका—राखी नहीं बाँधूँगी तो त्योहार काहे का ?

माता—(कुछ क्रुद्ध होकर) अरी, कुछ सिड़न हो गई है ? राखी-राखी रट लगा रखी है। बड़ी राखी बाँधनेवाली बनी है। ऐसी ही होती, तो आज यह दिन देखना पड़ता ? पैदा होते ही बाप को खा बैठी। ढाई बरस की होते-होते भाई से घर छुड़ा दिया। तेरे ही कर्मों से सब नास (नाश) हो गया।

बालिका बड़ी अप्रतिभ हुई और आँखों में आँसू भरे हुए चुपचाप नहाने को उठ खड़ी हुई।

× × ×

एक घण्टा पश्चात् हम उसी बालिका को उसके घर के द्वार पर खड़ी देखते हैं। इस समय भी उसके सुन्दर मुख पर उदासी विद्यमान है। अब भी उसके बड़े-बड़े नेत्रों में पानी छलछला रहा है।

परन्तु बालिका इस समय द्वार पर क्यों ? जान पड़ता है, वह किसी कार्यवश खड़ी है, क्योंकि उसके द्वार के सामने से जब कोई निकलता है, तब वह बड़ी उत्सुकता से उसकी ओर ताकने लगती है। मानो वह मुख से कुछ काहे बिना केवल इच्छा-शक्ति ही से, उस पुरुष का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने की चेष्टा करती थी। परन्तु जब उसे इसमें सफलता नहीं होती तब उसकी उदासी बढ़ जाती है।

इसी प्रकार एक, दो तीन करके कई पुरुष, बिना उसकी ओर देखे निकल गये।

अन्त को बालिका निराश होकर घर के भीतर लौट जाने को उद्यत ही हुई थी कि एक सुन्दर युवक की दृष्टि, जो कुछ सोचता हुआ धीरे-धीरे जा रहा था, वालिका पर पड़ी। बालिका की आँखें युवक की आँखों से जा लगीं। न जाने उन उदास तथा करुणापूर्ण नेत्रों में क्या जादू भरा था कि युवक ठिठककर खड़ा हो गया और बड़े ध्यान से सिर से पैर तक देखने लगा। ध्यान से देखने पर युवक को ज्ञात हुआ कि बालिका की आँखें अश्रुपूर्ण हैं। तब यह अधीर हो उठा। निकट जाकर पूछा—बेटी, क्यों रोती हो?

वालिका इसका कुछ उत्तर न दे सकी। परन्तु उसने अपना एक हाथ युवक की ओर बढ़ा दिया। युवक ने देखा, बालिका के हाथ में एक लाल डोरा है। उसने पूछा—यह क्या? वालिका ने आँखें नीची करके उत्तर दिया—राखी! युवक समझ गया। उसने मुस्कराकर अपना दाहिना हाथ आगे वढ़ा दिया।

वालिका का मुख-कमल खिल उठा। उसने बड़े चाव से युयक के हाथ में राखी बाँध दी।

राखी बँधवा चुकने पर युवक ने जेब में हाथ डाला और दो रुपये निकालकर वालिका को देने लगा। परन्तु वालिका ने उन्हें लेना स्वीकार न किया। बोली—नहीं, पैसे दो।

युवक—ये पैसे भी अच्छे हैं।

वालिका—नहीं, मैं पैसे लूँगी, यह नहीं।

युवक—ले लो बिटिया। इसके पैसे मँगा लेना। बहुत से मिलेंगे।

वालिका—नहीं, पैसे दो।

युवक ने चार आने पैसे मिलाकर कहा—अच्छा ले पैसे भी ले और यह भी ले।

वालिका—नहीं, खाली पैसे लूँगी।

तुझे दोनों लेने पड़ेंगे—यह कहकर युवक ने बलपूर्वक पैसे तथा रुपये वालिका के हाथ पर रख दिये।

इतने में घर के भीतर से किसी ने पुकारा—अरी सुरसती (सरस्वती) कहाँ गई?

बालिका ने—'आई'—कहकर युवक की ओर कृतज्ञतापूर्ण दृष्टि डाली और चली गई।

(२)

गोलागंज (लखनऊ) की एक बड़ी तथा सुन्दर अट्टालिका के एक सुसज्जित कमरे में युवक चिन्ता सागर में निमग्न बैठा है। कभी वह ठंडी साँसें भरता है, कभी रूमाल में आँखे पोंछता है, कभी आप ही आप कहता है—हाँ! सारा परिश्रम व्यर्थ गया। सारी चेष्टाएँ निष्फल हुईं। क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? उन्हें कहाँ ढूँढूँ। सारा उन्नाव छान डाला। परन्तु फिर भी पता न लगा—युवक आगे कुछ और कहने को था कि कमरे का द्वार धीरे-धीरे खुला और एक नौकर अन्दर आया।

युवक ने कुछ विरक्त होकर पूछा—क्यों, क्या है?

नौकर—सरकार, अमरनाथ बाबू आये हैं।

युवक—(सँभलकर) अच्छा यहीं भेज दो।

नौकर के चले जाने पर युवक ने रूमाल से आँखे पोंछ डालीं और मुख पर गम्भीरता लाने की चेष्टा करने लगा।

द्वार फिर खुला और एक युवक अन्दर आया। आओ—भाई अमरनाथ।

अमरनाथ—कहो घनश्याम, आज अकेले कैसे बैठे हो? कानपुर से कब लौटे?

घनश्याम—कल आया था।

अमरनाथ—उन्नाव भी अवश्य ही उतरे होंगे?

घनश्याम—(एक ठंडी साँस भरकर) हाँ उतरा था, परन्तु व्यर्थ। वहाँ अब मेरा क्या रखा है?

अमरनाथ—परन्तु करो क्या? हृदय नहीं मानता है—क्यों? और सच पूछो तो बात ही ऐसी है। यदि तुम्हारे स्थान पर मैं होता तो मैं भी ऐसा ही करता।

घनश्याम—क्या कहूँ मित्र, मैं तो हार गया। तुम जानते ही हो कि मुझे लखनऊ आकर रहे एक वर्ष हो गया और जब से यहाँ आया हूँ, उन्हें ढूँढ़ने में कुछ कसर उठा नहीं रक्खी, परन्तु सब व्यर्थ।

अमरनाथ---उन्होंने उन्नाव न जाने क्यों छोड़ दिया और कब छोड़ा---इसका भी कोई पता नहीं चलता।

घनश्याम—इसका पता तो चल गया न, कि वे लोग मेरे चले जाने के एक वर्ष पश्चात् उन्नाव से चले गये। परन्तु कहाँ गये, यह नहीं मालूम।

अमरनाथ—यह किससे मालूम हुआ?

घनश्याम---उसी मकानवाले से, जिसके मकान में हम लोग रहते थे।

अमरनाथ—हा, शोक!

घनश्याम—कुछ नहीं, यह सब मेरे ही कर्मों का फल है। यदि मैं उन्हें छोड़कर न जाता; यदि गया तो उनकी खोज-खबर लेता रहता। परन्तु मैं तो दक्षिण जा कर रुपया कमाने में इतना व्यस्त रहा कि कभी याद ही न आई और जो आई भी तो क्षणमात्र के लिए। उफ, कोई भी अपने घर को भूल जाता है? मैं ही ऐसा अधम—

अमरनाथ—(बात काटकर) अजी नहीं, सब समय की बात है।

घनश्याम—मैं दक्षिण न जाता तो अच्छा था।

अमरनाथ—तुम्हारा दक्षिण जाना तो व्यर्थ नहीं हुआ। यदि न जाते तो इतना धन···।

घनश्याम–अजी चूल्हे में जाय धन। ऐसा धन किस काम का? मेरे हृदय में सुख शान्ति नहीं तो धन किस मर्ज की दवा है?

अमरनाथ—ऐं, यह हाथ में लाल डोरा क्यों बाधा है?

घनश्याम—इसकी तो बात ही भूल गया, यह राखी है।

अमरनाथ—भाई वाह, अच्छी राखी है। लाल डोरे को राखी बताते हो। यह किसने बाँधी है? किसी बड़े कंजूस ब्राह्मण ने बाँधी होगी। दुष्ट ने एक पैसा तक खरचना पाप समझा, डोरे ही से काम निकाला।

घनश्याम—संसार में यदि बढ़िया से बढ़िया राखी बन सकती है तो मुझे उससे भी कहीं अधिक प्यारा यह लाल डोरा है—यह कहकर घनश्याम ने उसे खोलकर बड़े यत्नपूर्वक अपने बक्स में रख लिया।

अमरनाथ—भाई, तुम भी विचित्र मनुष्य हो। आखिर यह डोरा बाँधा किसने है?

घनश्याम—एक बालिका ने ।

पाठक समझ गये होंगे कि घमश्याम कौन है ?

अमरनाथ—बालिका ने कैसे बांधा और कहाँ ?

घनश्याम ने सारी घटना कह सुनाई ।

अमरनाथ - यदि यह बात है तो सत्य ही यह डोरा अमूल्य है ।

घनश्याम—न जाने क्यों, उस बालिका का ध्यान मेरे मन से नहीं उतरता ।

अमरनाथ --उसकी सरलता तथा प्रेम ने तुम्हारे हृदय पर प्रभाव डाला है । भला उसका नाम क्या है ?

घनश्याम—नाम तो मुझे नहीं मालूम । भीतर से किसी ने उसका नाम लेकर पुकारा था । परन्तु मैं सुन न सका ।

अमरनाथ—अच्छा, खैर ! अब तुमने क्या करना विचारा है ?

घनश्याम—धैर्य धरकर चुपचाप बैठने के अतिरिक्त और मैं कर ही क्या सकता हूँ ? मुझसे जो हो सका, मैं कर चुका ।

अमरनाथ—हाँ, यही ठीक भी है । ईश्वर पर छोड़ दो । देखो, क्या होता है ।

(३)

पूर्वोक्त घटना हुए पाँच वर्ष व्यतीत हो गये । घनश्यामदास पिछली बात प्राय: भूल गये हैं । परन्तु उस बालिका की याद कभी-कभी आ जाती है । उसे देखने वे एक बार कानपुर भी गये थे । परन्तु उसका पता न चला । उस घर में पूछने पर ज्ञात हुआ कि वहाँ से अपनी माता सहित, बहुत दिन हुये, न जाने कहाँ चली गई । इसके पश्चात् ज्यों-ज्यों समय बीतता गया उसका ध्यान भी कम होता गया । पर अब भी जब वे अपना बक्स खोलते हैं, तब कोई वस्तु देखकर चौंक पड़ते हैं और साथ ही कोई पुराना दृश्य भी आँखों के सामने आ जाता है ।

घनश्याम अभी तक अविवाहित हैं । पहले तो उन्होंने निश्चय कर लिया था कि विवाह करेंगे ही नहीं । पर मित्रों के कहने और स्वयं अपने अनुभव

ने उनका यह विचार बदल दिया। अब ये विवाह करने पर तैयार हैं। पर अभी तक कोई कन्या उनकी रुचि के अनुसार नहीं मिली।

जेठ का महीना है दिन भर की जला देने वाली धूप के पश्चात् सूर्यास्त का समय अत्यन्त सुखदायी प्रतीत हो रहा है। इस समय घनश्यामदास अपनी कोठी की बाग में मित्रों सहित बैठे मन्द-मन्द शीतल वायु का आनन्द ले रहे हैं। आपस में हास्यरसपूर्ण बातें हो रही हैं। बातें करते-करते एक मित्र ने कहा—अजी अभी तक अमरनाथ नहीं आये।

घनश्याम—वह मनमौजी आदमी है। कहीं रम गया होगा।

दूसरा—नहीं, रमा नहीं, वह आजकल तुम्हारे लिए दुलहिन ढूंढ़ने की चिन्ता में रहता है।

घनश्यान—बड़े दिल्लगीबाज हो।

दूसरा—नहीं दिल्लगी की बात नहीं है।

तीसरा—हाँ, परसों मुझसे भी यह कहता था कि घनश्याम का विवाह हो जाय तो मुझे चैन पड़े।

ये बातें हो रही थीं कि अमरनाथ लपकते हुए आ पहुँचे।

घनश्याम—आओ यार, बड़ी उमर हो—अभी तुम्हारी ही याद हो रही थी।

अमरनाथ—इस समय बोलिये नहीं, एकाध को मार बैठूँगा।

दूसरा—जान पड़ता है, कहीं से पिटकर आये हो।

अमरनाथ—तू फिर बोला—क्यों ?

दूसरा—क्यों, बोलना किसी के हाथ बेच खाया है।

अमरनाथ—अच्छा दिल्लगी छोड़ो। एक आवश्यक बात है।

सब उत्सुक होकर बोले—कहो, कहो; क्या बात है ?

अमरनाथ—(घनश्याम से) तुम्हारे लिए दुल्हन ढूँढ़ ली है।

सब—(एक स्वर में) फिर क्या, तुम्हारी चाँदी है।

अमरनाथ—फिर वही दिल्लगी। यार तुम लोग अजीब आदमी हो।

तीसरा—अच्छा बताओ, कहाँ ढूँढ़ी है ?

अमरनाथ—यहीं, लखनऊ में।

दूसरा—लड़की का पिता क्या करता है ?

अमरनाथ—पिता तो स्वर्गवास करता है।

तीसरा—यह बुरी बात है।

अमरनाथ—लड़की है और उसकी माँ बस, तीसरा कोई नहीं। विवाह में कुछ मिलेगा भी नही। लड़की की माता बड़ी गरीब है।

दूसरा—यह उससे भी बुरी बात है।

तीसरा—उल्लू मर गये, पट्ठे छोड़ गये। घर भी ढूँढ़ा तो गरीब। कहाँ हमारे घनश्याम इतने धनाढ्य और कहाँ ससुराल इतनी दरिद्र। लोग क्या कहेंगे।

अमरनाथ—अरे भाई, कहने और न कहनेवाले हमी तुम हैं और यहाँ उनका कौन बैठा है जो कहेगा।

घनश्याम ने ठंडी साँस ली।

तीसरा—आपने क्या भलाई देखी जो यह सम्बन्ध करना विचारा है ?

अमरनाथ—लड़की की भलाई। लड़की लक्ष्मी रूपा है। जैसी सुन्दर वैसी ही सरल। ऐसी लड़की यदि दीपक लेकर ढुँढ़ी जाय तो भी कदाचित् ही मिले।

दूसरा—हाँ, यह अवश्य एक बात है।

अमरनाथ—परन्तु लड़की की माता लड़का देखकर विवाह करने को कहती है।

तीसरा—यह तो व्यवहार की बात है।

घनश्याम—और, मैं लड़की देखकर विवाह करूँगा।

दूसरा—यह भी ठीक है।

अमरनाथ—तो इसके लिए क्या विचार है ?

तीसरा—विचार क्या, लड़की देखेंगे।

अमरनाथ—तो कब ?

घनश्याम—कल।

(४)

दूसरे दिन शाम को घनश्याम और अमरनाथ गाड़ी पर सवार होकर

लड़की देखने चले। गाड़ी चक्कर खाती हुई याहियागंज की गली के सामने जा खड़ी हुई। गाड़ी से उतर कर दोनों मित्र गली में घुसे। लगभग सौ कदम चलकर अमरनाथ एक छोटे से मकान के सामने खड़े हो गये और मकान का द्वार खटखटाया।

घनश्याम बोले—मकान देखने से तो बड़े गरीब जान पड़ते हैं।

अमरनाथ— हाँ, बात तो ऐसी ही है, परन्तु यदि लड़की तुम्हारे पसन्द आ जाय तो यह सब सहन किया जा सकता है।

इतने में द्वार खुला और दोनों भीतर गये। सन्ध्या हो जाने के कारण मकान में अँधेरा हो गया था, अतएव ये लोग द्वार खोलनेवाले को स्पष्ट न देख सके।

एक दालान में पहुँचने पर वे दोनों चारपाइयों पर बिठा दिए गए और बिठानेवाली ने, जो स्त्री थी, कहा—मैं जरा दिया जला लूँ।

अमरनाथ—हाँ जला लो।

स्त्री ने दीपक जलाया और पास ही एक दीवार पर उसे रख दिया, फिर इनकी ओर मुख करके वह नीचे चटाई पर बैठ गई। परन्तु ज्यों ही उसने घनश्याम पर अपनी दृष्टि डाली—एक हृदय-भेदी आह उसके मुख से निकली—और वह ज्ञानशून्य होकर गिर पड़ी।

स्त्री की ओर कुछ अँधेरा था इस कारण उन लोगों को उसका मुख स्पष्ट न दिखाई पड़ता था। घनश्याम उसे उठाने को उठा। परन्तु ज्यों ही उन्होंने उसका सिर उठाया और रोशनी उसके मुख पर पड़ी, त्यों ही घनश्याम के मुख से निकला—मेरी माता! और वे कहकर भूमि पर बैठ गये।

अमरनाथ विस्मित हो काष्ठवत् बैठे रहे। अन्त को कुछ क्षण उपरान्त बोले— उफ, ईश्वर की महिमा बड़ी विचित्र है। जिसके लिए तुमने न जाने कहाँ की ठोकरें खाईं वे अन्त को इस प्रकार मिले।

घनश्याम अपने को सँभालकर बोले—थोड़ा पानी मँगाओ।

अमरनाथ—किससे मँगाऊँ? यहाँ तो कोई और दिखाई ही नहीं पड़ता। परन्तु हाँ वह लड़की तुम्हारी—कहते अमरनाथ रुक गए। फिर उन्होंने पुकारा, बिटिया, थोड़ा पानी दे जाओ। परन्तु कोई उत्तर न मिला।

अमरनाथ ने फिर पुकारा—बेटी, तुम्हारी माँ अचेत हो गई हैं, थोड़ा पानी दे जाओ।

इस अचेत शब्द में न जाने क्या बात थी कि तुरन्त ही घर की दूसरी ओर बरतन खड़कने का शब्द हुआ, तत्पश्चात् एक पूर्ण वयस्का लड़की लोटा लिए आई। लड़की मुँह कुछ ढँके हुए थी। अमरनाथ ने पानी लेकर घनश्याम की माता की आँखें तथा मुख धो दिया। थोड़ी देर में उसे होश आया। उसने आँखें खोलते ही फिर घनश्याम को देखा। तब वह शीघ्रता से उठकर बैठ गई और बोली—ऐं, मैं क्या स्वप्न देख रही हूँ? घनश्याम, क्या तू मेरा खोया हुआ घनश्याम है? या कोई और?

माता ने पुत्र को उठाकर छाती से लगा लिया और अश्रुविंदु विसर्जन किये। परन्तु वे विन्दु सुख के थे अथवा दुःख के कौन कहे?

लड़की ने यह सब देख सुनकर अपना मुँह खोल दिया और भैया-भैया करती हुई घनश्याम से लिपट गई। घनश्याम ने देखा--लड़की कोई और नहीं, वही वालिका है जिसने पाँच वर्ष पूर्व उनके राखी बाँधी थी और जिसकी याद प्रायः उन्हें आया करती थी।

श्रावण का महीना है और श्रावणी का महोत्सव। घनश्यामदास की कोठी खूब सजाई गई है। घनश्याम अपने कमरे में बैठे एक पुस्तक पढ़ रहे हैं। इतने में एक दासी ने आकर कहा—बाबू, भीतर चलो। घनश्याम भीतर गये। माता ने उन्हें एक आसन पर बिठाया। और उनकी भगिनी सरस्वती ने उनके तिलक लगाकर राखी बाँधी। घनश्याम ने दो अशर्फियाँ उसके हाथ में धर दीं और मुस्कराकर बोले—क्या पैसे भी देने होंगे?

सरस्वती ने हँस कर कहा—नहीं भैया, ये अशर्फियाँ पैसों से अच्छी हैं। इनसे बहुत से पैसे आवेंगे।

———

श्री सुदर्शन

अमर जीवन

(१)

बाबू इन्द्रनाथ की लेखनी में जादू था। जब लिखने बैठते, साहित्य-सुधा की धारायें बह निकलतीं, जैसे पहाड़ों से मीठे जल की नदियाँ फूट निकलती हैं। उनकी आयु अधिक न थी। अधिक-से-अधिक पचीस साल के होंगे, मगर उनकी कविता और कल्पना देखकर हृदय प्रसन्न हो जाता था। साधारण-से-साधारण विषय भी लेते तो उसमें प्राण डाल देते। उनके निबन्ध पढ़कर लोग मन्त्र-मुग्ध हो जाते थे। कहते—"मन मोह लेता है। उनकी उपमाएँ कैसी सुन्दर हैं, शब्द कैसे मधुर हैं? पाठक किसी दिव्यलोक में पहुँच जाते हैं। यही जी चाहता है, पढ़ते ही रहें, कभी बस न करें।" उनकी रचना में मनोरंजन, सौन्दर्य, मोहनी सब कुछ था—और सबसे बढ़कर सादगी थी। वे अपने पाठकों पर बड़े-बड़े कठिन शब्दों से प्रभाव न डालते थे। यह ढङ्ग उन्हें कभी पसन्द न आता था। उन्हें जो कुछ कहना होता, सादे और सरल शब्दों में कह देते और यही उनका सबसे बड़ा गुण था। एक वर्ष पहले लोग उनके नाम से भी परिचित न थे और आज हिन्दी-साहित्य के कोने-कोने में उनके

नाम का डंका बजता है। कोई छोटे से छोटा भी ग्राम ऐसा न होगा जिसमें 'भाव-सुषमा' और 'सोम सागर' की एक दो प्रतियाँ न हों। इन ग्रन्थ-रत्नों को जो पढ़ता उसी पर जादू हो जाता था।

परन्तु इन्द्रनाथ की आर्थिक दशा सन्तोषजनक न थी। इतनी सिरपच्ची करने के बाद भी उनको इतनी आय न होती थी कि चिन्ता रहित जीवन बिता सकते। प्रायः दुखी रहते और अपने देश की शोचनीय दशा पर रोया करते। किसे ध्यान था कि उनके प्रान्त का सबसे बड़ा लेखक, सबसे प्यारा कविराज पैसे-पैसे को मुहताज होगा। उनका प्रकाशक कमाता था, वे भूखों मरते थे। संसार का यह दुर्व्यवहार देखकर उनका चित्त खट्टा हो जाता और कभी-कभी तो वे इतने उत्तेजित हो जाते कि लिखे-लिखाए लेख फाड़ डालते, लेखनी तोड़ देते और कहते—"अब लिखने का कभी नाम भी न लूँगा।"

(२)

प्रातःकाल था। इन्द्रनाथ धूप में बैठे एक मासिक पत्रिका के पन्ने उलटते हुए मुस्करा रहे थे। उनकी स्त्री मनोरमा ने पूछा—"क्यों ? क्या है, जो इतने प्रसन्न हो रहे हो !"

इन्द्रनाथ ने मनोरमा की तरफ प्रेम-पूर्ण दृष्टि से देखा और उत्तर दिया—"भाव-सुषमा" की समालोचना है। बहुत प्रशंसा की है।"

मनोरमा के मन में उद्गार की गुदगुदी होने लगी। तनिक आगे खिसककर बोली—"प्रशंसा करते हैं, समझते खाक भी नहीं।"

इन्द्रनाथ—"अरे !"

मनोरमा—"झूठ नहीं है। यहाँ के लोग मूर्ख हैं, तुम्हारा मूल्य क्या जानें। भैंस के आगे वीणा बज रही है।"

इन्द्रनाथ—"मेरी रचना के गुण-दोष समझने वाले वास्तव में थोड़े हैं। सारे शहर में केवल एक व्यक्ति है, जिसे इन बारीकियों का ज्ञान है।"

मनोरमा—"कौन !"

इन्द्रनाथ—"तुम्हें डाह तो न होगा ? वह एक स्त्री है, पर ऐसी योग्यता मैंने पुरुष में भी नहीं देखी।"

मनोरमा को कुछ सन्देह हुआ। धीरे से बोली—"कौन है ?"

इन्द्रनाथ—"श्रीमती मनोरमा देवी रानी। तुमने भी नाम तो सुना होगा!"

मनोरमा ने हँसकर मुँह फेर लिया और बोली—"जाओ, तुम तो हँसी करते हो।"

इन्द्रनाथ—"नहीं मनोरमा! वास्तव में मेरी यह सम्मति है।"

मनोरमा—"बस, कोई बनाना तुमसे सीख जाय।"

इन्द्रनाथ—"मेरा साहस तुम न बढ़ातीं तो मैं इतनी उन्नति कभी न करता।"

मनोरमा—"बड़ी पण्डिता हूँ न ?"

इन्द्रनाथ—"यह मेरे हृदय से पूछो। सोना अपना मूल्य नहीं जानता।"

मनोरमा—"मगर तुम खुशामद करना खूब जानते हो।"

इन्द्रनाथ—"समालोचना सुनोगी ?"

मनोरमा—"सुनाओ।"

इन्द्रनाथ ने पढ़ना आरम्भ किया—

"भाव सुषमा" हमारे सामने है। हमने इसे पढ़ा और कई दिन तक मन पर नशा सा छाया रहा। ऐसा प्रतीत होता है मानो हम किसी दिव्य-लोक में आ पहुँचे हैं। इसमें सौन्दर्य है, इसमें सादगी है, इसमें स्वाभाविकता है, इसमें कल्पना है, इसमें माधुरी है, इसमें सरलता है और कहें—इसमें सब कुछ है।"

सहसा किसी ने नीचे से आवाज दी—"बाबू इन्द्रनाथ ?"

इन्द्रनाथ और मनोरमा दोनों चौंक पड़े, जैसे किसी सुमधुर संगीत के बीच में कोई ऊँची आवाज से रोने लग जाय। उस समय रागी के हृदय पर क्या बीतती है, यह वही समझता है। वह झुँझला उठता है, मरने-मारने को तैयार हो जाता है।

बाबू इन्द्रनाथ ने पत्रिका चारपाई पर रख दी और नीचे गये। वापस आये, तो चेहरा उदास था और आँखों में आँसू लहरा रहे थे।

मनोरमा ने पूछा—"कौन था ?"

इन्द्रनाथ—"मकान मालिक था।"

मनोरमा का मुँह पीला हो गया। दुःखी होकर बोली—"क्या कहता था ? यह बुरा पीछे पड़ा है। चार दिन भी सब्र नहीं करता।"

इन्द्रनाथ—"कहता है, अब तो नालिश ही करनी पड़ेगी।"

मनोरमा—"कितना किराया है ? तीन महीने का !"

जब हमारे पास रुपया नहीं होता तब हम हिसाब नहीं करते। हिसाब करते हुये हमें डर लगता है। इन्द्रनाथ ने मनोरमा की बात अनसुनी कर दी और कहा—"जी चाहता है, कोई नौकरी कर लूँ। अब यह रोज-रोज का अपमान नहीं सहा जाता। प्रशंसा करने को सभी हैं, सहायता करने को कोई भी नहीं और कोरी प्रशंसा से किसी का पेट कब भरा है ? मनोरमा ने अपने पति की ओर देखा और कहा—"कर देखो। मगर यह तुम्हारा लिखने का चसका तो न छूटेगा। यह भी दूसरी शराब है।"

इन्द्रनाथ—"हुआ करे, छोड़ दूँगा। तुमने मुझे अभी समझा ही नहीं।"

मनोरमा—"खूब समझती हूँ। दफ्तर में काम कर सकोगे ?"

इन्द्रनाथ—"पैसे मिलेंगे तब क्यों न करूँगा ?"

मनोरमा—"अफसरों की झिड़कियाँ सह सकोगे ?"

इन्द्रनाथ—"मकान-मालिक के तगादों से जान तो बचेगी।"

मनोरमा—"यदि किसी ने कह दिया—'अरे ! ये तो वही कविराज हैं, जो साहित्य-क्षेत्र में इतने प्रसिद्ध हैं ! हमने समझा था, कोई बड़ा आदमी होगा, यह तो साधारण मुन्शी निकला, तब ?"

इन्द्रनाथ—"मैं समझूँगा, किसी दूसरे को कहते हैं और क्या करूँ ? प्रकाशकों ने तो मेरे परिश्रम पर डाका मारने का निश्चय कर लिया है। कहते हैं, जब कोई अधिक न देगा तब झख मार कर हमारी शर्तें स्वीकार करेगा। वे रुपयेवाले हैं, रुपये का मूल्य समझते हैं, कला का मूल्य नहीं समझते। ऐसे स्वार्थी मुझे क्या दे सकेंगे ? योरोप में होता तो सोने का महल खड़ा कर लिया होता। यहाँ अपने भाग्य को रो रहे हैं।"

मनोरमा—"तुम अपना दिल छोटा न करो, सब ठीक हो जायगा।"

इन्द्रनाथ—"तो आज जाऊँ, लाला रंगीलाल से मिल आऊँ। मेरा हृदय कहता है, काम बन जायगा। बड़े सज्जन हैं।"

मनोरमा—"थोड़ी प्रशंसा कर देना। बड़े आदमी तो बातों से ही प्रसन्न हो जाते हैं।"

इन्द्रनाथ—"मुझे इस तरह पढ़ाने की आवश्यकता नहीं।"

मनोरमा—"यह काम हो जाय तो समझें गङ्गा नहा लिये।"

इन्द्रनाथ—"उनका तो बहुत अधिकार है, चाहें तो आज ही नौकरी दे दें। उठो, कपड़े बदलवा दो। बहुत मैले हो गये हैं।"

मनोरमा ने उठकर सन्दूक खोला और कपड़े देखने लगी, परन्तु कपड़े धुलकर नहीं आये थे। मनोरमा के हृदय पर दूसरा आघात लगा, उसका मुँह हार्दिक वेदना से पीला पड़ गया। यह वही प्रसन्न-वदना, वही प्रफुल्ल-हृदया मनोरमा थी, जिसके कह कहों से सारा मुहल्ला गूँजता रहता था, पर इस समय वह कितनी अशान्त, कैसी उदास थी? पंछी कभी फूल की डालियों पर किलोलें करता है, कभी पंख समेट कर चुपचाप अपने घोंसले में बैठ जाता है।

इन्द्रनाथ ने ठण्डी आह भरी और कहा—"मनोरमा! अब नहीं सहा जाता।"

यह वही प्रतिभा-सम्पन्न सुप्रसिद्ध लेखक है, जिसकी कविता देश के कोने-कोने में आदर-सम्मान से पढ़ी जाती है, जिसकी लेखनी की रचनाएँ पाषाण-हृदय को भी मोह लेती हैं, जिसकी शब्द-रचना को लोग तरसते हैं, जिसका नाम सुनकर लोग श्रद्धा-भाव से नत-मस्तक हो जाते हैं, जिसके ग्रन्थ दुष्टात्माओं के लिए धर्म-उपदेशों से कम नहीं, आज वही पचास रुपये की नौकरी करने चला है। काव्य, कल्पना और कला की नगरी का राजा भीख माँगने निकला है।

मनोरमा ने अपने पति की यह हीन दशा देखी तो आह मारकर भूमि पर बैठ गई। इस समय उसके हृदय में एक विचार था—यह सिर किसी के सामने कैसे झुकेगा?

एक घंटे बाद इन्द्रनाथ पे-आफिस के सुपरिंटेण्डेण्ट लाला रंगीलाल के दफ्तर में थे। रंगीलाल एक पुस्तक पढ़ रहे थे। उन्होंने तपाक के साथ उठकर इन्द्रनाथ से हाथ मिलाया और माफी माँगते हुए कहा, "मुझे केवल पाँच मिनट की आज्ञा दीजिये!"

यह कह कर लाला रंगीलाल ने सामने पड़ी हुई कुरसी की ओर संकेत किया और अपनी पुस्तक पढ़ने में लीन हो गये। इन्द्रनाथ को वह व्यवहार अत्यन्त लज्जाजनक मालूम हुआ। उनको ऐसा मालूम हुआ जैसे किसी ने स्पष्टतः निरादर कर दिया हो। उनका चेहरा तमतमा उठा। ध्यान आया, कैसा असभ्य है? इसे अपने समय तक का ध्यान है, हमारे समय की चिन्ता नहीं और यदि अभी से यह दशा है तो नौकर हो जाने के बाद तो कदाचित् द्वार पर प्रतीक्षा करनी होगी।

इन्द्रनाथ ने उठने का संकल्प किया, मगर एकाएक मकान मालिक की अग्नि-मूर्ति याद आ गई। क्या फिर वे ही आँखें देखूँगा? क्या फिर वही धौंस सुनूँगा? इन्द्रनाथ चुपचाप बैठ गये, जैसे हवा में उड़ते हुए कागजों पर कोई लोहे का टुकड़ा धर दे। इन कागजों के टुकड़ों की लोहे के सम्मुख क्या शक्ति है? आत्मा को प्रकृति ने दबा लिया। यह प्रतीक्षा का समय इन्द्रनाथ के लिए आत्मिक-यन्त्रणा का समय था। और जब लाला रंगीलाल ने पुस्तक समाप्त कर ली तब इन्द्रनाथ को ऐसा मालूम हुआ, जैसे कमरे में हवा का अभाव है और उनका दम घुटा जा रहा है। मगर रंगीलाल अपनी पढ़ी हुई पुस्तक के ध्यान में तन्मय थे। थोड़ी ही देर तक वे योग की सी अवस्था में आँखें बन्द किये पड़े रहे, फिर बड़बड़ाने लगे—"वाह-वाह! क्या कहना!! कितने ऊँचे विचार हैं, कैसे पवित्र भाव!!!"

इन्द्रनाथ उनको आँखें फाड़कर देखने लगे कि वह कहते क्या हैं। रंगीलाल ने मेज पर झुककर कहा—"फरमाइए जनाब, क्या हुक्म है?"

इतने में कमरे का द्वार खुला, बड़े साहब हाथ में टोप लिए हुए अन्दर आये। लाला रंगीलाल खड़े हो गये।

"गुड-मार्निङ्ग!"

"गुड-मार्निङ्ग! यह किताब कैसा है?"

रंगीलाल—"बहुत बढ़िया!"

साहब ने पुस्तक हाथ में लेकर दूसरे हाथ मे उसके पन्ने उलटते हुए कहा—टो आपको वहोट अच्छा मालूम हुआ।

रंगीलाल—"अच्छा का सवाल नहीं, मैंने ऐसी पुस्तक हिन्दी में आज तक नहीं देखी।"

साहब—"इतना अचा है!"

रंगीलाल—"पढ़ने का मजा मिल गया।"

साहब—"इंग्लिश में किस किताब के माफिक है?"

रंगीलाल—"यह मैं नहीं जानता, पर पुस्तक बहुत अच्छी है।"

साहब—"ड्रामा (नाटक) है?"

रंगीलाल—"नहीं साहब! 'पोयट्री' (कविता) है।"

साहब—"हिन्दी 'पोयट्री' क्या होगा? 'रब्बिश'[१] होगा।"

रंगीलाल—"यदि आप पढ़ सकते तो ऐसा कभी न कहते।"

सहसा इन्द्रनाथ की दृष्टि पुस्तक के कवर की ओर गई तो वे चौंक पड़े। यह पुस्तक 'भाव-सुषमा' थी। उनका मन-मयूर नाचने लगा। उनका हृदय गुलाब के फूल के समान खिल गया। वे अब इस संसार में न थे। किसी और संसार में थे। उन्हें अब इस तुच्छ, निकृष्ट, नश्वर संसार की मोहिनी माया—धन सम्पत्ति—की चिन्ता न थी। सोचते थे—सम्पत्ति क्या है? आती है, चली जाती है। यह उड़ती-फिरती चिड़िया है, जिसे पिंजरे में बन्द रखना असम्भव है। मेरे पास धन नहीं, धनवान् तो हैं! इस आदमी के हृदय में मेरा कितना मान है? कैसी भक्ति भावना है? पुस्तक की ओर इस तरह देखता है, जैसे कोई भक्त अपने उपास्य-देव की ओर देखता हो। पढ़ता था जब आँखें चमकती थीं। मुझे इस दशा में देखेगा तो क्या कहेगा? चौंक उठेगा। चकित रह जायगा। उसे आशा न होगी कि मैं भिखारी बनकर उसके सामने हाथ पसारूँगा और मैं उसके सामने आँखें न उठा सकूँगा। लज्जा से भूमि में गड़ जाऊँगा। मुझे नौकरी मिल जायगी पर आत्म-गौरव की सम्पत्ति जाती रहेगी। यह सौदा महँगा है। लोग आत्म-गौरव के लिए सर्वस्व लुटा देते हैं। क्या मैं चाँदी के सिक्कों के लिए इस अमोल धन से शून्य रह जाऊँगा? नहीं, यह भूल होगी। मैं यह भूल कभी न करूँगा।

यह सोचकर इन्द्रनाथ धीरे से उठे और द्वार खोलकर बाहर निकल

[१]कूड़ा-करकट।

आए। इस समय उनके मुँह पर आध्यात्मिक आभा थी जो इस संसार में कम ही दिखाई देती है। उनकी आँखों में आत्म-सम्मान की ज्योति जलती थी, हृदय में स्वर्गीय आनन्द-सागर लहरें मारता था। पहले आत्मा को प्रकृति ने पछाड़ा था, अब प्रकृति पर आत्मा ने विजय पाई। इन्द्रनाथ में वही सन्तोष था, वही त्याग, वही वैराग्य जो सन्यासियों की सम्पति है, जिसके लिए योगी जंगलों में भटकते-फिरते हैं। घर पहुँचे तब ऐसे प्रसन्न थे, जैसे कुबेर का धन पा गये हों। मनोरमा बोली—"मालूम होता है, काम बन गया।"

इन्द्रनाथ—"आशा से भी अधिक।"

मनोरमा—"परमात्मा को धन्यवाद है कि उसने हमारी सुन ली। क्या महीना मिलेगा?"

इन्द्रनाथ—"कुछ न पूछो, इस समय मेरा हृदय बस में नहीं है।"

मनोरमा—"अरे। क्या मुझे भी न बतलाओगे?"

इन्द्रनाथ ने मनोरमा को सारी कहानी सुना दी और अन्त में कहा—"मनोरमा! मुझे नौकरी नहीं मिली पर आत्म-ज्ञान मिल गया है, मेरे ज्ञान-चक्षु खुल गये हैं। मैं अपने आपको भूला हुआ था, आज मेरे हृदय-पट से परदा उठ गया है। मुझे मालूम हो गया है, कवि की पदवी कितनी महान्, कैसी उच्च है? वह हृदयें के सिंहासन पर राज्य करता है, वह सोती हुई जाति को जगाता है, वह मरे हुए देश में नवीनता का संचार करता है। संसार अपने लिए जीता है और अपने लिए मरता है, मगर कवि का सारा जीवन उपकार का जीवन है। वह गिरे हुए उत्साह को उठाता है, रोती हुई आँखों के आँसू पोंछता है और निराशावादियों के सम्मुख आशा का दिव्य-दीपक प्रज्ज्वलित करता है। संसार के लोग उत्पन्न होते हैं और मर जाते हैं, पर ऐसे जाति-निर्माता सदा जीवित रहते हैं, उन्हें कभी मृत्यु नहीं आती। मैंने नौकरी नहीं की यह अमर जीवन ले लिया है। मनोरमा, मेरा हाथ थामो, मेरी सहायता करो। इसमें सन्देह नहीं, तुम्हें कष्ट होगा पर इसके बदले में जो आत्मिक आनन्द, जो सच्चा सुख प्राप्त होगा, उसका मूल्य कौन समझ सकता है?"

मनोरमा ने श्रद्धा-भाव से अपने पति की ओर देखा और मुस्कराने लगी।

श्री वृन्दावनलाल वर्मा

शरणागत

१

रज्जब अपना रोजगार करके ललितपुर लौट रहा था। साथ में स्त्री थी और गाँठ में दो-तीन सौ की बड़ी रकम। मार्ग बीहड़ था और सुनसान। ललितपुर काफी दूर था, बसेरा कहीं-न-कहीं लेना ही था। इसलिये उसने मड़पुरा नामक गाँव में जाने का निश्चय किया। उसकी पत्नी को बुखार हो आया। रकम पास में थी और बैलगाड़ी किराये पर करने में खर्च ज्यादा पड़ता, इसलिये रज्जब ने उस रात आराम कर लेना ही ठीक समझा।

परन्तु ठहरता कहाँ? जात छिपाने से काम नहीं चल सकता था। उसकी पत्नी नाक और कानों में चाँदी की बालियाँ डाले थी और पैजामा पहने थी। इसके सिवाय गाँव के बहुत से लोग उसको पहचानते भी थे। वह उस गाँव के बहुत से कर्मण्य और अकर्मण्य ढोर खरीदकर ले जा चुका था।

अपने व्यवहारियों से उसने रात-भर के बसेरे के लायक स्थान की याचना की, किन्तु किसी ने भी मंजूर न किया। उन लोगों ने अपने ढोर रज्जब को अलग-अलग और छिपे-लुके बेचे थे। ठहरने में तुरन्त ही तरह-तरह की खबरें फैलतीं, इसलिये सब ने इनकार कर दिया।

गाँव में एक गरीब ठाकुर रहता था। थोड़ी-सी जमीन थी, जिसको किसान जोतते थे। निज का हल-बैल कुछ भी न था, लेकिन अपने किसानों से दो-तीन साल का पेशगी लगान वसूल कर लेने में ठाकुर को किसी विशेष बाधा

का सामना नहीं करना पड़ता था। छोटा-सा मकान था, परन्तु उसको गाँव वाले गढ़ी के आदर-व्यञ्जक शब्द से पुकारा करते थे और ठाकुर को डर के मारे 'राजा' शब्द से सम्बोधित करते थे।

शामत का मारा रज्जब इसी ठाकुर के दरवाजे पर अपनी ज्वर-ग्रस्त पत्नी को लेकर पहुँचा।

ठाकुर पौर में बैठा हुक्का पी रहा था। रज्जब ने बाहर से ही सलाम करके कहा—"दाऊ जू, एक बिनती है।"

ठाकुर ने बिना एक रत्ती-भर इधर-उधर हिले हुए पूछा—"क्या?"

रज्जब बोला—"मैं दूर से आ रहा हूँ। बहुत थका हुआ हूँ, मेरी औरत को जोर से बुखार आ गया है। जाड़े में बाहर रहने से न जाने इसकी क्या हालत हो जायगी, इसलिए रात भर के लिए कहीं दो हाथ जगह दे दी जाय।"

"कौन लोग हो?" ठाकुर ने प्रश्न किया।

"हूँ तो कसाई।" रज्जब ने सीधा उत्तर दिया। चेहरे पर उसके बहुत गिड़गिड़ाहट थी।

ठाकुर की बड़ी-बड़ी आँखों में कठोरता छा गई। बोला—"जानता है, यह किसका घर है? यहाँ तक आने की हिम्मत कैसे की तूने?"

रज्जब ने आशा-भरे स्वर में कहा—"यह राजा का घर है। इसलिये शरण में आया हूँ।"

तुरन्त ठाकुर की आँखों की कठोरता गायब हो गई। जरा नरम स्वर में बोला—"किसी ने तुमको बसेरा नहीं दिया?"

"नहीं महाराज।" रज्जब ने उत्तर दिया—"बहुत कोशिश की, परन्तु मेरे खोटे पेशे के कारण कोई सीधा नहीं हुआ।"

और दरवाजे के बाहर ही, एक कोने से चिपक कर बैठ गया। पीछे उसकी पत्नी कहरती काँपती हुई गठरी-सी बनकर सिमट गई।

ठाकुर ने कहा—"तुम अपनी चिलम लिये हो?"

"हाँ, सरकार।" रज्जब ने उत्तर दिया।

ठाकुर बोला—"तब भीतर आ जाओ और तमाखू अपनी चिलम से पी

लो। अपनी औरत को भी भीतर कर लो। हमारी पौर के एक कोने में पड़े रहना।"

जब ये दोनों भीतर आ गये ठाकुर ने पूछा—"तुम कब यहाँ से उठ कर जाओगे?" जवाब मिला—"अँधेरे में ही महाराज! खाने के लिए रोटियाँ बाँधे हूँ, इसलिए पकाने की जरूरत न पड़ेगी।"

"तुम्हारा नाम?"

"रज्जब।"

२

थोड़ी देर बाद ठाकुर ने रज्जब से पूछा—"कहाँ से आ रहे हो?" रज्जब ने स्थान का नाम बतलाया।

"वहाँ किसलिये गये थे?"

"अपने रोजगार के लिए?"

"काम तो तुम्हारा बहुत बुरा है।"

"क्या नफा हुआ?" प्रश्न करने में ठाकुर को बड़ा संकोच हुआ और प्रश्न का उत्तर देने में रज्जब को उससे बढ़कर।

रज्जब ने जवाब दिया—"महाराज पेट के लायक कुछ मिल गया है, यों ही।" ठाकुर ने इस पर कोई जिद्द नहीं की।

रज्जब क्षण भर बाद बोला—"बड़े भोर ही उठकर चला जाऊँगा। तब तक घर के लोगों की तबियत भी अच्छी हो जायगी।"

इसके बाद दिन-भर से थके हुए पति-पत्नी सो गये। काफी रात गये कुछ लोगों ने एक बँधे इशारे से ठाकुर को बाहर बुलाया। एक फटी रजाई ओढ़े ठाकुर बाहर निकल आया।

आगन्तुकों में से एक ने धीरे से कहा—"दाऊजी! आज तो खाली हाथ लौटे हैं। कल सन्ध्या का सगुन बैठा है।"

ठाकुर ने कहा—"आज जरूरत थी खैर, कल देखा जायगा। क्या कोई उपाय किया था?"

"हाँ"—आगन्तुक बोला—"एक कसाई रुपये की नोट बाँधे इसी ओर आया है, परन्तु हम लोग जरा देर में पहुँचे। वह खिसक गया। कल देखेंगे, जरा जल्दी।"

ठाकुर ने घृणासूचक स्वर में कहा—"कसाई का पैसा न छुएँगे।"

"क्यों ?"

"बुरी कमाई है।"

"उसके रुपयों पर कसाई थोड़े ही लिखा है।"

"रुपया तो दूसरों का ही है। कसाई के हाथ में आने से रुपया कसाई नहीं हुआ।"

"मेरा मन नहीं मानता, वह अशुद्ध है।"

"हम अपनी तलवार से उसको शुद्ध कर लेंगे।"

ज्यादा बहस नहीं हुई। ठाकुर ने कुछ सोचकर अपने साथियों को बाहर का बाहर ही टाल दिया।

भीतर देखा, कसाई सो रहा था और उसकी पत्नी भी। ठाकुर भी सो गया।

३

सबेरा हो गया था, परन्तु रज्जब न जा सका। पत्नी का बुखार तो हल्का ही था, परन्तु शरीर-भर में पीड़ा थी और वह एक कदम भी नहीं चल सकती थी।

ठाकुर उसे वहीं ठहरा हुआ देख कर कुपित हो गया। रज्जब से बोला—"मैंने खूब मेहमान इकट्ठे किये हैं। गाँव भर थोड़ी देर में तुम लोगों को मेरी पौर में टिका हुआ देखकर तरह-तरह की बकवास करेगा। तुम बाहर जाओ और इसी समय।"

रज्जब ने बहुत विनती की, किन्तु ठाकुर न माना। यद्यपि गाँव उसके दबदबे को मानता था, परन्तु अव्यक्त लोकमत का दबदबा उसके मन पर भी था। इसलिए रज्जब गाँव के बाहर सपत्नीक एक पेड़ के नीचे जा बैठा और हिन्दू मात्र को मन-ही मन कोसने लगा।

उसे आशा थी की पहर-आध-पहर में उसकी पत्नी की तबीयत इतनी स्वस्थ हो जायगी कि वह पैदल यात्रा कर सकेगी; परन्तु ऐसा न हुआ, तब उसने एक गाड़ी किराये पर कर लेने का निर्णय किया।

मुश्किल से एक चमार काफी किराया लेकर ललितपुर गाड़ी ले जाने के

लिए राजी हुआ। इतने में दोपहर हो गई। उसकी पत्नी को जोर का बुखार हो आया। वह जाड़े के मारे थर-थर काँप रही थी, इतनी कि रज्जब की हिम्मत उसी समय ले जाने की न गाड़ी। पड़ी में अधिक हवा लगने के भय से रज्जब ने उस समय तक के लिये यात्रा को स्थगित कर दिया, जब तक कि उस वेचारी की कम-से-कम कँपकँपी बन्द न हो जाय।

घण्टे-डेढ़ घण्टे बाद उसकी कँपकँपी बन्द हो गई, परन्तु ज्वर बहुत तेज हो गया। रज्जब ने अपनी पत्नी को गाड़ी में डाल दिया और गाड़ीवान से जल्दी चलने को कहा।

गाड़ीवान बोला —"दिन भर तो यहीं लगा दिया। अब जल्दी चलने को कहते हो।"

रज्जब ने मिठास के स्वर में उससे फिर जल्दी करने के लिए कहा।

वह बोला—"इतने किराये में काम नहीं चल सकेगा। अपना रुपया वापस लो, मैं घर जाता हूँ।"

रज्जब ने दाँत पीसे। कुछ क्षण चुप रहा। सचेत होकर कहने लगा—'भाई, आफत सबके ऊपर आती है। मनुष्य, मनुष्य को सहारा देता है, जानवर तो देते नहीं, तुम्हारे भी बाल-बच्चे हैं। कुछ दया के साथ काम लो।"

उसको टस-से-मस न होता देखकर रज्जब ने और पैसे दिये तब उसने गाड़ी हाँकी।

४

पाँच-छः मील चलने के बाद सन्ध्या हो गई। गाँव कोई पास में न था। रज्जब की गाड़ी धीरे-धीरे चली जा रही थी। उसकी पत्नी बुखार में बेहोश-सी थी। रज्जब ने अपनी कमर टटोली। रकम सुरक्षित बँधी थी।

रज्जब को स्मरण हो आया कि पत्नी के बुखार के कारण अंटी का कुछ बोझ कम कर देना है—और स्मरण हो आया गाड़ीवान का वह हठ, जिसके कारण उसको कुछ पैसा व्यर्थ ही और दे देने पड़े। उसे गाड़ीवान पर क्रोध था, परन्तु उसको प्रकट करने की उस समय उसके मन में इच्छा न थी।

बातचीत करके रास्ता काटने की कामना से उसने वार्तालाप आरम्भ किया—

"गांव तो यहाँ से दूर मिलेगा।"

'वहुत दूर, वहीं ठहरेंगे।"

"किसके यहाँ।"

"किसी के यहाँ भी नहीं। पेड़ के नीचे। कल सवेरे ललितपुर चलेंगे।"

"कल का फिर पैसा माँग उठना।"

' कैसे माँग उठूँगा ? किराया ले चुका हूँ, अब फिर कैसे माँगूंगा ?"

"कैसे आज गाँव में हठ करके माँगा था ? बेटा ! ललितपुर होता तो वतला देता।'

"क्या बतला देते ? क्या सेंतमेंत गाड़ी में वैठना चाहते थे ?"

"क्यों वे, क्या रुपया लेकर भी सेंतमेंत का वैठना कहाता है ? जानता है, मेरा नाम रज्जव है। अगर बीच में गड़वड़ करेगा तो साले तुझको यहीं छूरी से काट कर कहीं फेंक दूँगा और गाड़ी लेकर ललितपुर चल दूँगा।"

रज्जव क्रोध को प्रकट नहीं करना चाहता था; परन्तु शायद अकारण ही वह भली-भाँति प्रकट हो गया।

गाड़ीवान ने इधर-उधर देखा। अँधेरा हो गया था, चारों ओर सुनसान था। आस-पास झाड़ी थी। ऐसा जान पड़ता था, कहीं से कोई अब निकला और अब निकला। रज्जव की वात सुनकर उसकी हड्डी-हड्डी कांप गई; ऐसा जान पड़ा मानों पसलियों को उसकी ठंडी छुरी छू रही हो।

गाड़ीवान चुपचाप वैलों को हाँकने लगा, उसने सोचा गाँव के आते ही गाड़ी छोड़कर नीचे खड़ा हो जाऊँगा और हल्ला गुल्ला करके गाँववालों की मदद से अपना पीछा रज्जव से छुड़ाऊँगा। रुपये-पैसे भले ही वापस कर दूँगा, परन्तु और आगे न जाऊँगा, कहीं सचमुच मार्ग में मार डाले।

५

गाड़ी थोड़ी दूर और चली होगी कि वैल ठिठक कर खड़े हो गये। रज्जव सामने नहीं देख रहा था इसलिए जरा कड़क कर गाड़ीवान से बोला—"क्यों वे बदमाश ! सो गया ?"

अधिक कड़क के साथ, सामने रास्ते पर खड़ी हुई एक टुकड़ी में से किसी के कठोर कंठ से निकला—"खबरदार, जो आगे बढ़ा।"

रज्जब ने सामने देखा कि चार-पाँच आदमी बड़े-बड़े लट्ठ बाँधकर न जाने कहाँ से आ गये हैं। उनमें से तुरन्त ही एक ने बैलों की जुआरों पर लट्ठ पटका और दो दाँएँ-बाँएँ आकर रज्जब पर आक्रमण करने को तैयार हो गये।

गाड़ीवान गाड़ी छोड़कर नीचे जा खड़ा हुआ। बोला—"मालिक ! मैं तो गाड़ीवान हूँ। मुझसे कोई सरोकार नहीं।"

"यह कौन है ?" एक ने गरजकर पूछा।

गाड़ीवान की घिग्घी बँध गई। कोई उत्तर न दे सका।

रज्जब ने कमर की गाँठ को एक हाथ से सँभालते हुए बहुत ही विनम्र स्वर में कहा—"मैं बहुत गरीब आदमी हूँ। मेरे पास कुछ नहीं है। मेरी औरत गाड़ी में बीमार पड़ी है। मुझे जाने दीजिये।"

उन लोगों में से एक ने रज्जब के सिर पर लाठी उबारी।

गाड़ीवान खिसकना चाहता था कि दूसरे ने उसको पकड़ लिया।

अब उसका मुँह खुला। बोला—"महाराज, मुझको छोड़ दो। मैं तो किराये पर गाड़ी लिए जा रहा हूँ। गाँठ में खाने के लिए तीन-चार आने पैसे ही हैं।"

"और यह कौन है ? बतला।" उन लोगों में से एक ने पूछा।

गाड़ीवान ने तुरन्त उत्तर दिया—"ललितपुर का एक कसाई।"

रज्जब के सिर पर जो लाठी उबारी गई थी, वह वहीं रह गई, लाठी वाले के मुँह से निकला—"तुम कसाई हो ? सच बताओ।"

"हाँ महाराज !" रज्जब ने सहसा उत्तर दिया—"मैं बहुत गरीब हूँ, हाथ जोड़ता हूँ, मुझको मत सताओ। मेरी औरत बहुत बीमार है।"

औरत जोर से कराही।

लाठी वाले आदमी ने अपने एक साथी के कान में कहा—"इसका नाम रज्जब है। छोड़ो; चलो यहाँ से।"

उसने न माना। बोला—"इसका खोपड़ा चकनाचूर करो दाऊजी ! यदि वैसे न मानो तो। असाई कसाई हम कुछ नहीं मानते।"

"छोड़ना ही पड़ेगा" उसने कहा—"इस पर हाथ न पसारेंगे और न इसका पैसा छुएँगे।"

दूसरा बोला—"क्या कसाई होने के डर से ? दाऊ जी ! आज तुम्हारी बुद्धि पर पत्थर पड़ गये हैं, मैं देखता हूँ।" और वह तुरन्त लाठी लेकर गाड़ी पर चढ़ गया। लाठी का एक सिरा रज्जब की छाती में अड़ाकर उसने तुरन्त रुपया पैसा निकाल कर देने का हुक्म दिया। नीचे खड़े हुए उस व्यक्ति ने जरा तीव्र स्वर में कहा—"नीचे उतर आओ, मत उससे बोलो, उसकी औरत बीमार है।"

"हो, मेरी बला से," गाड़ी में चढ़े हुए लठैत ने उत्तर दिया—"मैं कसाइयों की दवा हूँ!" और उसने रज्जब को धमकी दी।

नीचे खड़े हुए व्यक्ति ने कहा—"खबरदार जो उसे छुआ। नीचे उतरो नहीं तो तुम्हारा सिर चूर किये देता हूँ। वह मेरी शरण आया था। गाड़ीवान लठैत झख-सी मार कर उतर आया।

नीचे वाले व्यक्ति ने कहा—"सब लोग अपने-अपने घर जाओ। राहगीरों को तंग मत करो।" फिर गाड़ीवान से बोला—"जा रे, हाँक ले जा गाड़ी। ठिकाने तक पहुँचा आना तब लौटना; नहीं तो अपनी खैर मत समझियो। और तुम दोनों में से किसी ने भी कभी इस बात की चर्चा कहीं की तो भूसी की आग में जलाकर खाक कर दूँगा।"

गाड़ीवान गाड़ी लेकर बढ़ गया। उन लोगों में से जिस आदमी ने गाड़ी पर चढ़कर रज्जब के सिर पर लाठी तानी थी, उसने क्षुब्ध स्वर में कहा—

"दाऊजी ! आगे से कभी आपके साथ न आऊँगा।"

दाऊजी ने कहा—"न आना, मैं अकेले ही बहुत कर गुजरता हूँ। परन्तु बुन्देला शरणागत के साथ घात नहीं करता, इस बात को गाँठ बाँध लेना।"

———

श्री भगवती चरण वर्मा

प्रायश्चित्त

अगर कबरी बिल्ली घर भर में किसी से प्रेम करती थी तो रामू की बहू से और अगर रामू की बहू घर भर में किसी से घृणा करती थी तो कबरी बिल्ली से। रामू की बहू दो महीना हुआ मायके से प्रथम बार ससुराल आई थी। पति की प्यारी और सास की दुलारी, चौदह वर्ष की बालिका। भंडार-घर की चाभी उसकी करधनी में लटकने लगी, नौकरों पर उसका हुक्म चलने लगा और रामू की बहू घर में सब कुछ; सास जी ने माला लिया और पूजा-पाठ में मन लगाया।

लेकिन ठहरी चौदह वर्ष की बालिका, कभी भंडार-घर खुला है तो कभी भंडार-घर में बैठे-बैठे सो गई। कबरी बिल्ली को मौका मिला, घी-दूध पर अब वह जुट गई। रामू की बहू की जान आफत में और कबरी बिल्ली के छक्के-पंजे। रामू की बहू हांडी में घी रखते-रखते ऊँघ गई और बचा हुआ घी कबरी के पेट में। रामू की बहू दूध ढँककर मिसरानी को जिन्स देने गई और दूध नदारद। अगर बात यहीं तक रह जाती तो भी बुरा न था, कबरी रामू की बहू से कुछ ऐसा परच गई थी कि रामू की बहू के लिए खाना-पानी दुश्वार। रामू की बहू के कमरे में रबड़ी से भरी कटोरी पहुँची और रामू जब आये तब तक कटोरी साफ चटी हुई। बाजार से बालाई आई और जब तक रामू की बहू ने पान लगाया, बालाई गायब। रामू की बहू ने तै कर लिया कि या तो वही घर में रहेगी या फिर कबरी बिल्ली ही। मोरचाबन्दी हो गई और

दोन , तर्क। बिल्ली फँसाने का कटघरा आया। उसमें दूध, बालाई, चूहे और भी बिल्ली को स्वादिष्ट लगने वाले विविध प्रकार के व्यंजन रखे गये, लेकिन बिल्ली ने उधर निगाह तक न डाली। इधर कबरी ने सरगर्मी दिखलाई। अभी तक तो वह रामू की बहू से डरती थी, पर अब वह साथ लग गई, लेकिन इतने फासिले पर कि रामू की वहू उस पर हाथ न लगा सके।

कबरी के हौसले बढ़ जाने से रामू की बहू को घर में रहना मुश्किल हो गया। उसे मिलती थ। सास की मीठी झिड़कियाँ और पतिदेव को मिलता था रूखा-सूखा भोजन।

एक दिन रामू की बहू ने रामू के लिए खीर बनाई। पिश्ता, बादाम, मखाने और तरह-तरह के मेवे दूध में औटे गये, सोने का वर्क चिपकाया गया और खीर से भर कर कटोरा कमरे के एक ऐसे ऊँचे ताक पर रखा गया जहाँ बिल्ली न पहुँच सके। रामू की बहू इसके बाद पान लगाने में लग गई।

उधर कमरे में बिल्ली आई, ताक के नीचे खड़ी होकर उसने ऊपर कटोरे की ओर देखा, सूँघा, माल अच्छा है, ताक की ऊँचाई अन्दाजी और रामू की बहू पान लगा रही है। पान लगा कर रामू की बहू सासजी को पान देने चली गई और कबरी ने छलांग मारी, पंजा कटोरे में लगा और कटोरा झनझनाहट की आवाज के साथ फर्श पर।

आवाज रामू की बहू के कान में पहुँची, सास के सामने पान फेंककर वह दौड़ी, क्या देखती है कि फूल का कटोरा टुकड़े-टुकड़े, खीर फर्श पर और बिल्ली डटकर खीर उड़ा रही है। रामू की बहू को देखते ही कबरी चम्पत।

रामू की बहू पर खून सवार हो गया, न रहे बाँस न बजे बाँसुरी। रामू की बहू ने कबरी की हत्या पर कमर कस ली। रात भर उसे नींद न आई। कस दाँव से कबरी पर वार किया जाय कि फिर जिन्दा न बचे, यही पड़े-पड़े सोचती रही। सुबह हुई और वह देखती है कि कबरी देहरी पर बैठी बड़े प्रेम से उसे देख रही है।

रामू की बहू ने कुछ सोचा, इसके बाद मुसकराती हुई वह उठी, कबरी

रामू की वहू के उठते ही खिसक गई। रामू की वहू एक कटोरा दूध कमरे के दरवाजे की देहरी पर रखकर चली गई। हाथ में पाटा लेकर वह लौटी तो देखती है कि कवरी दूध पर जुटी है। मौका हाथ में आ गया। सारा वल लगाकर पाटा उसने विल्ली पर पटक दिया। कवरी न हिली न डुली न चीखी न चिल्लाई, वस एक दम उलट गई।

आवाज जो हुई तो महरी झाड़ू छोड़कर, मिसरानी रसोई छोड़कर और सास पूजा छोड़कर घटनास्थल पर उपस्थित हो गई। रामू की वहू सर झुकाये हुए अपराधिनी की भाँति बातें सुन रही है।

महरी बोली—अरे राम, विल्ली तो मर गई। माँ जी, विल्ली की हत्या वहू से हो गई, यह तो वुरा हुआ।

मिसरानी वोलीं—माँजी, विल्ली की हत्या और आदमी की हत्या वरावर हैं। हम तो रसोई न बनावेंगी, जव तक वहू के हत्या रहेगी।

सासजी वोलीं—हाँ, ठीक तो कहती हो, अब जब तक वहू के सिर से हत्या न उतर जाय तव तक न कोई पानी पी सकता है, न खाना खा सकता हैं। वहू, यह क्या कर डाला ?

महरी ने कहा—फिर क्या हो, कहो तो पंडित जी को वुलाय लाई।

सास की जान में जान आई—अरे हाँ, जल्दी दौड़ के पंडित जी को वुला ला।

विल्ली की हत्या की खवर विजली की तरह पड़ोस में फैल गई। पड़ोस की औरतों का रामू के घर में ताँता बँध गया। चारों तरफ से प्रश्नों की वौछार और रामू की वहू सिर झुकाये वैठी।

पंडित परमसुख को जव यह खवर मिली उस समय वे पूजा कर रहें थे। खवर पाते ही वे उठ पड़े—पंडिताइन से मुस्कराते हुए बोले—भोजन न बनाना। लाला घासीराम की पतोहू ने विल्ली मार डाली। प्रायश्चित्त होगा, पकवानों पर हाथ लगेगा।

पंडित परमसुख चौवे छोटे-से, मोटे-से आदमी थे। लम्बाई चार फीट दस इंच और तोंद का घेरा अठ्ठावन इंच। चेहरा गोल-मटोल, मूँछ बड़ी-बड़ी, रंग गोरा, चोटी कमर तक पहुँचती हुई।

कहा जाता है कि मथुरा में जब पंसेरी खुराक वाले पंडितों को ढूंढ़ा जाता था तो पंडित परमसुखजी को उस लिस्ट में प्रथम स्थान दिया जाता था।

पंडित परमसुख पहुँचे और कोरम पूरा हुआ। पंचायत बैठी—सासजी, मिसरानी, किसनू की माँ, छन्नू की दादी और पंडित परमसुख। बाकी स्त्रियाँ बहू से सहानुभूति प्रकट कर रही थीं।

किसनू की माँ ने कहा—पंडितजी, बिल्ली की हत्या करने से कौन नरक मिलता है?

पंडित परमसुख ने पत्रा देखते हुए कहा—बिल्ली की हत्या अकेले से तो नरक का नाम नहीं बतलाया जा सकता; वह महूरत भी जब मालूम हो जब बिल्ली की हत्या हुई, तब नरक का पता लग सकता है।

'यही कोई सात बजे सुबह!'—मिसरानी जी ने कहा।

पंडित परमसुख ने पन्ने के पन्ने उल्टे, अक्षरों पर उँगलियाँ चलाईं; मत्थे पर हाथ लगाया और कुछ सोचा। चेहरे पर धुँधलापन आया। माथे पर बल पड़े, नाक कुछ सिकुड़ी और स्वर गम्भीर हो गया। हरे कृष्ण! हरे कृष्ण। बड़ा बुरा हुआ, प्रातःकाल ब्रह्म मुहूर्त में बिल्ली की हत्या! घोर कुम्भीपाक नरक का विधान है। रामू की माँ, यह तो बड़ा बुरा हुआ।

रामू की माँ की आँखों में आँसू आ गये—तो फिर पंडितजी, अब क्या होगा, आप ही बतलायें?

पंडित परमसुख मुसकराये—रामू की माँ, चिन्ता की कौन-सी बात है, हम पुरोहित फिर कौन दिन के लिए हैं। शास्त्रों में प्रायश्चित्त का विधान है, सो प्रायश्चित्त से सब कुछ ठीक हो जायगा।

रामू की माँ ने कहा—पंडितजी, इसीलिए तो आपको बुलवाया था, अब आगे बतलाओ कि क्या किया जाय?

किया क्या जाय—यही, एक सोने की बिल्ली बनवाकर बहू से दान करवा दी जाय। जब तक बिल्ली न दे दी जायेगी, तब तक तो घर अपवित्र रहेगा, बिल्ली दान देने के बाद एक्कीस दिन का पाठ हो जाय।

छन्नू की दादी—हाँ और क्या, पंडितजी तो ठीक कहते हैं। बिल्ली दान दे दी जाय और पाठ फिर हो जाय।

रामू की माँ ने कहा—तो पंडितजी, कितने तोले की बिल्ली बनवाई जाय ?

पंडित परमसुख मुसकराये, अपनी तोंद पर हाथ फेरते हुए उन्होंने कहा—बिल्ली कितने तोले की बनवाई जाय ? अरे रामू की माँ, शास्त्रों में तो लिखा है कि बिल्ली के वजन भर सोने की बिल्ली बनवाई जाय। लेकिन अब कलियुग आ गया है, धर्म-कर्म का नाश हो गया है, श्रद्धा नहीं रही। सो रामू की माँ, बिल्ली की तौल भर की बिल्ली तो क्या बनेगी, क्योंकि बिल्ली बीस-एक्कीस तोले से कम की क्या होगी ? हाँ, कम-से-कम एक्कीस तोले की बिल्ली बनवा के दान करवा दो, और आगे तो अपनी-अपनी श्रद्धा।

रामू की माँ ने आँखें फाड़ कर पंडित परमसुख को देखा—अरे बाप रे ! एक्कीस तोला सोना ! पंडितजी यह तो बहुत है ! तोला भर की बिल्ली से काम निकलेगा ?

पंडित परमसुख हँस पड़े—रामू की माँ, एक तोला सोने की बिल्ली ! अरे, रुपये का लोभ बहू से बढ़ गया ? बहू के सिर बड़ा पाप है—इसमें इतना लोभ ठीक नहीं।

मोल-तोल शुरू हुआ और मामला ग्यारह तोले की बिल्ली पर ठीक हो गया।

'यह तो पंडितजी ठीक कहते हैं, पंडितजी की तोंद तो देखो'—मिसरानी ने मुस्कराते हुए पंडितजी पर व्यंग किया।

अच्छा तो फिर प्रायश्चित का प्रबन्ध करवाओ रामू क ी माँ, ग्यारह तोला सोना निकालो, मैं उसकी बिल्ली बनवा लाऊँ—दो घण्टे में मैं बनवाकर लौटूँगा तब तक सब पूजा का प्रबन्ध कर रखो—और देखो, पूजा के लिए—'

पंडितजी की बात खतम भी न हुई थी कि महरी हाँफती हुई कमरे में आई और सब लोग चौंक उठे। रामू की माँ ने घबराकर कहा—अरी क्या हुआ री ?

महरी ने लड़खड़ाते स्वर में कहा—माँ जी, बिल्ली तो उठकर भाग गई।

श्री जैनेन्द्र कुमार

अपना-अपना भाग्य

१

बहुत कुछ निरुद्देश्य घूम चुकने पर हम सड़क के किनारे की एक बेंच पर बैठ गये।

नैनीताल की संध्या धीरे-धीरे उतर रही थी। रुई के रेशे-से भाप-से बादल हमारे सिरों को छू-छूकर बेरोक घूम रहे थे। हलके प्रकाश और अँधियारी से रँग कर कभी वे नीले दीखते, कभी सफेद और जरा देर में अरुण पड़ जाते। वे जैसे हमारे साथ खेलना चाह रहे थे।

पीछे हमारे पोलोवाला मैदान फैला था, सामने अँग्रेजो का एक प्रमोद-गृह था, जहाँ सुहावना-रसीला बाजा बज रहा था और पार्श्व में था वही सुरम्य अनुपम नैनीताल।

ताल में किश्तियाँ अपने सफेद पाल उड़ाती हुई एक दो अँग्रेजों को लेकर इधर-से-उधर खेल रही थीं और कहीं कुछ अँग्रेज एक-एक देवी सामने प्रतिस्थापित कर, अपनी सुई सी शक्ल की डोंगियों को मानो शर्त बाँधकर सरपट दौड़ा रहे थे। कहीं किनारे पर कुछ साहब अपनी वंशी पानी में डाले सधैर्य, एकाग्र, एकस्थ, एकनिष्ठ मछली-चिन्तन कर रहे थे।

पीछे पोलो-लॉन में बच्चे किलकारियाँ भरते हुए हॉकी खेल रहे थे। शोर, मार-पीट, गाली-गलौज भी जैसे खेल का ही अंश था। इस तमाम खेल को उतने क्षणों का उद्देश्य बना, वे बालक अपना सारा मन, सारी देह, समग्र बल और समूची विद्या लगाकर मानो खत्म कर देना चाहते थे। उन्हें आगे की चिन्ता न थी, बीते का ख्याल तक न था। वे शुद्ध तत्काल के प्राणी थे। वे शब्द की सम्पूर्ण सचाई के साथ जीवित थे।

सड़क पर से नर-नारियों का अविरल प्रवाह आ रहा था और जा रहा था। उसका न ओर था न छोर। यह प्रवाह कहाँ जा रहा था और कहाँ से आ रहा था, कौन बता सकता है? सब उम्र के लोग उसमें थे। मानों मनुष्यता के नमूनों का बाजार सजकर सामने से इठलाता निकला चला जा रहा हो।

अधिकार-गर्व में तने अँग्रेज उसमें थे और चीथड़ों से सजे घोड़ों की बाग थामे वे पहाड़ी उसमें थे, जिन्होंने अपनी प्रतिष्ठा और सम्मान को कुचल कर शून्य बना लिया था और जो बड़ी तत्परता से दुम हिलाना सीख गये थे।

भागते, खेलने, हँसते, शरारत करते लाल-लाल अँग्रेज बच्चे हँस रहे थे। और पीली आँखें फाड़े, पिता की उँगली पकड़ कर चलते हुए अपने हिन्दुस्तानी नौनिहाल भी थे।

अँग्रेज पिता थे, जो अपने बच्चों के साथ भाग रहे थे, हँस रहे थे और खेल रहे थे। उधर भारतीय पितृदेव भी थे, जो बुजुर्गी को अपने चारों तरफ लपेटे धन सम्पन्नता के लक्षणों का प्रदर्शन करते हुए चल रहे थे।

अँग्रेज रमणियाँ थीं, जो धीरे नहीं चलती थीं, तेज चलती थीं, उन्हें न चलने में थकावट आती थी, न हँसने में लाज आती थी। कसरत के नाम पर घोड़े पर भी बैठ सकती थीं और घोड़े के साथ ही साथ जरा जी होते ही किसी हिन्दुस्तानी पर भी कोड़े फटकार सकती थीं। वे दो-दो, तीन-तीन, चार-चार की टोलियों में निःशंक, निरापद, इस प्रवाह में मानो अपने स्थान को जानती हुई. सड़क से चली जा रही थीं।

उधर हमारी भारत की कुल लक्ष्मियाँ सड़क के बिलकुल किनारे-किनारे ामन बचाती और सम्हालती हुई साड़ी की कई तहों में सिमट-सिमटकर,

लोक-लाज, स्त्रीत्व और भारतीय गरिमा के आदर्श को अपने परिवेष्ठनों में छिपा-कर, सहमी-सहमी धरती में आँखें गाड़े कदम-कदम बढ़ रही थीं।

(२)

घंटे के घंटे सरक गये। अन्धकार गाढ़ा हो गया। बादल सफेद होकर जम गए। मनुष्यों का यह तांता एक-एक कर क्षीण हो गया। अब इक्का-दुक्का आदमी सड़क पर छतरी लगाकर निकल रहा था। हम वहीं-के-वहीं बैठे थे। सर्दी सी मालूम हुई। हमारे ओवरकोट भीग गये थे।

पीछे फिरकर देखा। वह लॉन वर्फ की चादर की तरह बिलकुल स्तब्ध और सुन्न पड़ा था।

सब सन्नाटा था। नैनीताल की बिजली की रोशनियाँ दीपमालिका-सी जग-मगा रही थीं। वह जगमगाहट दो मील तक फैले हुए प्रकृति के जलदर्पण पर प्रतिबिम्बित हो रही थी और दर्पण सा काँपता हुआ, लहरें लेता हुआ, वह ताल उन प्रतिबिम्बों को सौ गुना—हजार-गुना करके, उनके प्रकाश को मानो एकत्र और पुंजीभूत करके व्याप्त कर रहा था। पहाड़ के सिर पर की रोशनियाँ तारों-सी जान पड़ती थीं।

हमारे देखते-देखते एक घने पर्दे ने आकर इन सब को ढँक दिया। रोशनियाँ मानो मर गईं। जगमगाहट लुप्त हो गई। काले-काले भूत-से पहाड़ भी इस सफेद पर्दे के पीछे छिप गये। पास की वस्तु भी न दीखने लगी; मानों वह घनीभूत प्रलय थीं। सब कुछ इस घनी-गहरी सफेदी में दब गया। जैसे एक शुभ्र महासागर ने फैलकर संसृति के सारे अस्तित्व को डुबो दिया। ऊपर, नीचे, चारों तरफ, निर्भेद्य, सफेद शून्यता हो फैली हुई थी।

ऐसा घना कुहरा हमने कभी न देखा था। वह टप-टप टपक रहा था। मार्ग अब बिलकुल निर्जन, चुप था। वह प्रवाह न जाने किन घोंसलों में छिपा था।

उस बृहदाकार शुभ्र शून्य में, कहीं से ग्यारह बार टन-टन हो उठा; जैसे कहीं दूर कब्र में से आवाज आ रही हो।

हम अपने-अपने होटलों के लिए चल दिये।

(३)

रास्ते में दो मित्रों का होटल मिला। दोनों वकील मित्र छुट्टी लेकर चले गये। हम दोनों आगे बढ़े। हमारा होटल आगे था।

ताल के किनारे-किनारे हम चले जा रहे थे। हमारे ओवरकोट तर हो गए थे। बारिश नहीं मालूम होती थी, पर वहाँ से ऊपर-नीचे हवा के कण-कण में बारिश थी। सर्दी इतनी थी कि सोचा कोट पर एक कम्बल और होता तो अच्छा होता।

रास्ते में ताल के बिल्कुल किनारे एक बेंच पड़ी थी। मैं जी में बेचैन हो रहा था। झटपट होटल पहुँचकर, इन भींगे कपड़ों से छुट्टी पा, गरम बिस्तर में छिपकर सो रहना चाहता था, पर साथ के मित्र की सनक कब उठेगी और कब थमेगी—इसका क्या कुछ ठिकाना है ? और वह कैसी क्या होगी—इसका भी कुछ अन्दाज है ? उन्होंने कहा—"आओ, जरा यहाँ बैठें।"

हम उस चूते कुहरे में रात को ठीक एक बजे, तालाब के किनारे की उस भींगी, बर्फीली, ठंडी हो रही लोहे की बेंच पर बैठ गये।

५—१०—१५ मिनट हो गये। मित्र के उठने का इरादा न मालूम हुआ। मैंने खिझलाकर कहा—

"चलिए भी......................"

"अरे जरा बैठो भी.................."

हाथ पकड़ कर जरा बैठने के लिए इस जोर से बैठा लिया गया, तो और चारा न रहा, लाचार बैठ रहना पड़ा। सनक से छुटकारा न था और वह जरा बैठना भी जरा न था।

चुपचाप बैठे तंग हो रहा था, कुढ़ रहा था। मित्र अचानक बोले—"देखा, वह क्या है ?"

मैंने देखा—कुहरे की सफेदी में कुछ ही दूर से एक काली सी मूरत हमारी तरफ बढ़ी आ रही थी। मैंने कहा—"होगा कोई।"

तीन गज दूरी से दीख पड़ा। एक लड़का सिर के बड़े-बड़े बालों को

खुजलाता हुआ चला आ रहा है। नंगे पैर है, नंगे सिर। एक मैली सी कमीज लटकाये हैं।

पैर उसके न जाने कहाँ पड़ रहे थे और वह न जाने कहाँ जा रहा हैं, कहाँ जाना चाहता है ? उसके कदमों में जैसे कोई न अगला हैं, न पिछला है, न दायाँ है, न बायाँ।

पास की चुङ्गी की लालटेन के छोटे से प्रकाश-वृक्ष में देखा —कोई दस बरस का होगा। गोरे रंग का है पर मैल से काला पड़ गया है, आँखें अच्छी बड़ी पर सूनी हैं। माथा जैसे अभी से झुर्रियाँ खा गया है।

वह हमें न देख पाया। वह जैसे कुछ भी नहीं देख रहा था, न नीचे की धरती; न ऊपर चारों तरफ फैला हुआ कुहरा; न सामने का तालाब और न बाकी दुनियाँ। वह बस अपने विकट वर्तमान को देख रहा था।

मित्र ने आवाज दी—"ए !"

उसने जैसे जाग कर देखा और पास आ गया।

"तू कहाँ जा रहा है ?"

"उसने अपनी सूनी आँखें फाड़ दीं।"

"दुनिया सो गई, तू ही क्यों घूम रहा है ?"

बालक मौन-मूक, फिर भी बोलता हुआ चेहरा लेकर खड़ा रहा।

"कहाँ सोयेगा ?"

"यहीं कहीं।"

"कल कहाँ सोया था ?"

"दूकान पर।"

"आज वहाँ क्यों नहीं ?"

"नौकरी से हटा दिया।"

"क्या नौकरी थी ?"

"सब काम। एक रुपया और जूठा खाना।"

"फिर नौकरी करेगा ?"

"हाँ..."

"बाहर चलेगा ?"

“हाँ ।”

“आज क्या खाना खाया ?”

“कुछ नहीं ?’

“अब खाना मिलेगा ?”

“नहीं मिलेगा ।”

“यों ही सो जायगा ?”

“हाँ…”

“कहाँ ।”

“यहीं ।”

“इन्हीं कपड़ों से ?”

बालक फिर आँखों से बोलकर मूक खड़ा रहा । आँखें मानों बोलती थीं—“यह भी कैसा मूर्ख प्रश्न है ?”

“माँ-बाप हैं ?”

“हाँ ।”

“कहाँ ?”

“१५ कोस दूर गाँव में ।”

“तू भाग आया ?”

“हाँ ।”

“क्यों ?”

“मेरे कई छोटे भाई-बहन हैं—सो भाग आया । वहाँ काम नहीं । रोटी नहीं । बाप भूखा रहता था और माँ भूखी रहती थी और रोती थी । सो भाग आया । एक साथी और था । उसी गाँव का था—मुझसे बड़ा । दोनों साथ यहाँ आये । वह अब नहीं है ।”

“कहाँ गया ?”

“मर गया ।”

इस जरा-सी उम्र में ही इसकी मौत से पहचान हो गई ! मुझे अचरज हुआ, “मर गया ?”

‘हाँ, साहब ने मारा, मर गया ।”

"अच्छा हमारे साथ चल !"

"वह साथ चल दिया । लौट कर हम वकील दोस्तों के होटल में पहुँचे ।"

"वकील साहब ?"

वकील लोग होटल के कमरे से उतर कर आये । काश्मीरी दोशाला लपेटे थे, मोजे चढ़े थे, पैरों में चप्पल थी । स्वर में हलकी झुँझलाहट थी, कुछ लापरवाही थी ।

"ओ-हो-फिर आप !—कहिए ?"

"आपको नौकर की जरूरत थी ? देखिए, यह लड़का है ।"

"कहाँ से लाये ! इसे आप जानते हैं ?"

"जानता हूँ—यह बेईमान नहीं हो सकता ।"

"अजी ये पहाड़ी बड़े शैतान होते हैं । बच्चे-बच्चे में गुन छिपे रहते हैं । आप भी क्या अजीब हैं—उठा लाये कहीं से – लो जी, यह नौकर लो ।"

"मानिये तो, यह लड़का अच्छा निकलेगा ।"

"आप भी···जी, बस खूब हैं । ऐरे-गैरे को नौकर बना लिया जाय और अगले दिन वह न जाने क्या-क्या लेकर चम्पत हो जाय ।"

"आप मानते ही नहीं, मैं क्या करूँ ?"

"मानें क्या खाक ? आप भी...जी, अच्छा मजाक करते हैं । अच्छा अब हम सोने जाते हैं ।"

और वह चार रुपये रोज के किरायेवाले कमरे में सजी मसहरी पर सोने झटपट चले गये ।

(४)

वकील साहब के चले जाने पर होटल के बाहर आकर मित्र ने अपनी जेब में हाथ डालकर कुछ टटोला पर झट कुछ निराशभाव से हाथ बाहर कर वे मेरी ओर देखने लगे ।

"क्या है ?" मैंने पूछा ।

"इसे खाने के लिए कुछ देना चाहता था"— अंग्रेजी में मित्र ने कहा— "मगर दस-दस के नोट हैं ।"

"नोट ही शायद मेरे पास हैं;—दे दूँ ।"

सचमुच मेरी जेब में भी नोट ही थे। हम फिर अँग्रेजी में बोलने लगे। लड़के के दाँत बीच-बीच में कटकटा उठते।—कड़ाके की सर्दी थी।

मित्र ने पूछा—"तब ?"

मैंने कहा—"दस का नोट ही दे दो।" सकपकाकर मित्र मेरा मुँह देखने लगे—"अरे यार, बजट बिगड़ जायगा। हृदय में जितनी दया है, पास में उतने पैसे तो नहीं।"

"तो जाने दो यह दया ही इस जमाने में बहुत है।"—मैंने कहा। मित्र चुप रहे, जैसे कुछ सोचते रहे। फिर लड़के से बोले—

"आज तो कुछ नहीं हो सकता। कल मिलना। वह 'होटल डि-पब' जानता है ? वहीं कल १० बजे मिलेगा ?"

"हाँ। कुछ काम देंगे हुजूर ?"

"हाँ-हाँ ढूँढ़ दूँगा ?"

"तो जाऊँ ?"—लड़के ने निराश आशा से पूछा।

"हाँ"—ठण्डी साँस खींचकर मित्र ने पूछा—"कहाँ सोयेगा ?"

"यहीं कहीं; बेंच पर, पेड़ के नीचे—किसी दुकान की भट्ठी में।"

बालक कुछ ठहरा। मैं असमंजस में रहा। तब वह प्रेतगति से एक ओर बढ़ा और कुहरे में मिल गया। हम भी होटल की ओर बढ़े। हवा तीखी हमारे कोटों को पार कर बदन में तीर-सी लगती थी।

सिकुड़ते हुए मित्र ने कहा—"भयानक शीत है। उसके पास कम—बहुत कम—कपड़े थे······।"

"यह संसार है यार ?" मैंने स्वार्थ की फिलासफी सुनाई—"चलो, पहले बिस्तर में गर्म हो लो फिर किसी की चिन्ता करना।"

उदास होकर मित्र ने कहा—"स्वार्थ !—जो कहो, लाचारी कहो, निठुराई कहो या बेहयाई !"

× × ×

दूसरे दिन नैनीताल-स्वर्ग के किसी काले गुलाम पशु के दुलार का वह बेटा—वह बालक, निश्चित समय पर हमारे 'होटल-डि-पब' में नहीं आया। हम

अपनी नैनीताल सैर खुशी-खुशी खतम कर चलने को तैयार हुए। उस लड़के की आस लगाये बैठे रहने की जरूरत हमने न समझी।

मोटर में सवार होते ही थे कि यह समाचार मिला—"पिछली रात, एक पहाड़ी बालक, सड़क के किनारे पेड़ के नीचे ठिठुर कर मर गया।"

मरने के लिए उसे वही जगह, वही दस बरस की उम्र और वही काले चीथड़ों की कमीज मिली। आदमियों की दुनियाँ ने बस यही उपहार उसके पास छोड़ा था।

पर बतलाने वालों ने बताया कि गरीब के मुँह पर, छाती, मुट्ठियों और पैरों पर, बरफ की हल्की-सी चादर चिपट गई थी; मानों दुनिया की बेहयाई ढँकने के लिए प्रकृति ने शव के लिये सफेद और ठंडे कफन का प्रबन्ध कर दिया था।

सब सुना और सोचा—"अपना-अपना भाग्य !"

—

सन्त चमार रैदास

श्री चतुरसेन शास्त्री

मीरा माँ

(१)

ग्रीष्म की संध्या थी। गंगा चुपचाप वह रही थीं। काशी, अविनाशी शिव की वैकुण्ठपुरी, गम्भीर समुद्र की तरह शोभायमान हो रही थी। मणिकर्णिका घाट पर एक छोटी-सी दूकान में एक वृद्ध पुरुष बैठा सुई-डोरा लिए, नाक पर बिल्लौर का मोटा चश्मा चढ़ाये जूते सी रहा था। वृद्ध दुर्बल, कृशकाय और अर्द्धनग्न था; वस्त्र के नाम पर उसकी कमर में एक अँगोछा लिपट रहा था, परन्तु वह अत्यन्त स्वच्छ था, यद्यपि उससे उसका घुटनों तक का भाग भी पूरा ढँका नहीं था।

जूते की दूकान सुनते ही मन में घृणा के भाव उत्पन्न हो सकते हैं। सहस्रावधि चमार गन्दे वेश, गन्दे ढङ्ग और गन्दी दुकानों पर जूते बनाते हैं, परन्तु इस वृद्ध पुरुष की बात ही निराली थी---गंदगी नाम की न थी। इसका शरीर यद्यपि कृश और दुर्बल था, पर उसके नेत्रों में एक आभा, ओठों में एक आनन्द और प्रशस्त ललाट में एक निश्चितता की झलक थी। उसकी बीच से उभरी हुई खोपड़ी उसकी मेधाशक्ति और विवेक-पूर्ण भक्ति-भाव की अधिकता का प्रमाण दे रही थी।

वही विचित्र पुरुष प्रसिद्ध भक्त रैदास थे। कुछ पद गुनगुनाते जाते और जूते में टाँके लगाते जाते थे। दो-तीन युवक और एक-दो अधेड़ अवस्था के पुरुष बैठे बीच-बीच में भक्तराज से कुछ प्रश्न कर लिया करते थे। इनका

उत्तर अतिशय हास्य और उल्लास के साथ भक्तराज दे दिया करते थे। परन्तु उनका जूते में टाँका देना शिथिल नहीं होता था, मानों ऐसे अबाध रूप से गम्भीर विषयों पर बातें किये जाना और कार्य भी किये जाना उनका चिर-अभ्यास कार्य था।

(२)

एक गगन-भेदी हर्षोल्लास और जय-ध्वनि को सुनकर वह चौंक उठा। उसने कहा — वह क्या है ? शिष्यमंडल ने खड़े होकर देखा, अपार जन-समूह धीरे-धीरे उधर ही बढ़ा चला आ रहा है। प्रचंड जयघोष के बीच स्वरताल-मय वाद्य और एक मधुर कंठ की स्वर-लहरी कभी-कभी इतनी दूर से भी सुनाई पड़ जाती है।

भक्तराज स्वयं उठ खड़े हुये और कौतूहल-पूर्ण नेत्रों से देखने और इधर-उधर के मनुष्यों से पूछने लगे। जन समूह उधर ही आ रहा था। निकट आने पर देखा — एक देवांगना जैसी भावावेष में तन्मय हुई, अर्धनिमीलित नेत्रवाली, परम सुन्दरी, गौरवर्णी, कृशांगी स्त्री, अद्भुत नृत्य करती और संगीत लहरी से वातावरण में एक कम्पन उत्पन्न करती, रसविमूढ़ हुई बढ़ी चली आ रही है। इसे न शरीर का ज्ञान है, न जन-रव का, न परिस्थिति का। पचासों दासियाँ उसे घेरे हैं, बहुतों के हाथ में वाद्य, बहुतों के हाथ में थाल हैं और बहुत-सी प्रचुर स्वर्ण मुद्राएँ मार्ग में बिखेरती चल रही हैं।

देवी की प्रत्येक भाव-भंगी पर जनसमूह प्रचंड जयघोष करता है। एक साधारण श्वेत साड़ी के परिधान से उसका शरीर ढँका हुआ है। अलंकार नहीं, पैरों में जूते नहीं, पर एक अपूर्व उज्ज्वल आलोक उसके अर्धनिमीलित नेत्रों में और शारदीय चन्द्र के समान आप्यायित करनेवाली एक प्रभा उसके मुखमंडल से निकल कर सहस्रावधि जनता को उन्मत्त कर रही थी। अनेक लोग बेसुध हुए, देवी की ताल पर नाचने लगे थे। असंख्य पुरुष जय-जयकार का उन्मत्त घोष कर रहे थे। धीरे-धीरे वह जाग्रत-ज्योति आगे बढ़ रही थी।

(३)

भक्तराज ने और निकट आने पर देखा और विस्मय तथा हर्ष से

विक्षिप्त होकर कहा, 'अरे ! यह तो मीरा माँ हैं !' वृद्ध भीड़ की ओर दौड़ा, पीछे शिष्यवर्ग भी दौड़ा। भीड़ में बहुत लोग 'हैं-हैं', 'चमार-चमार', 'दूर-दूर' चिल्लाने लगे। अनेक शाल काँधे पर डाले और पीताम्बर पहने, चिकनी तोंदवाले पंडित 'शिव ! शिव !!' कहते दूर भाग गये। बहुत से गुण्डों ने चीत्कार करके कहा, 'दूर हो' 'दूर हो' 'ओ चमार !' यह कह कर दंड-प्रहार का आयोजन किया, बहुत से धक्का देने चले, पर स्पर्श होने के भय से रह गये।

भक्तराज जाग्रत न थे, समाधिस्थ आगे बढ़ रहे थे। उनके विमूढ़ नेत्र न कुछ देख रहे थे, न कान कुछ सुन रहे थे। वे दोनों हाथ पागल की भाँति आकाश की ओर उठाये 'मीरा माँ' 'मीरा माँ' कहते तीर की भाँति सीधे भीड़ में घुस गये। भीड़ स्पर्श-दोष से बचने के लिए हट गई। क्षण भर में भक्तराज मीरा के सम्मुख थे।

मीरा हठात् स्तम्भित हो गईं। मन्त्र-मुग्ध सर्पिणी की भाँति अचल खड़ी हो गईं। उन्होंने विस्फारित नेत्रों से क्षण भर भक्तराज की ओर देखा—भक्तराज तो अब भी सावधान न थे। वे 'माँ मीरा' 'मीरा माँ' कहके नाच रहे थे। निकट आते ही वे धड़ाम से मीरा के चरणों में गिरकर वहाँ की धूल सिर पर डालने लगे। पर उसी क्षण मीरा भी पृथ्वी पर 'गुरुदेव' कह कर लोट गईं।

(४)

अद्भुत दृश्य था। दोनों भक्तशिरोमणि एक दूसरे के चरण-स्पर्श करने की सम्पूर्ण चेष्टा कर रहे थे। धीरे-धीरे दोनों के नेत्रों से प्रेमाश्रुधारा बह चली। जन-समूह उन्मादग्रस्त-सा होकर 'जय माँ मीरा' बारम्बार चिल्लाने लगा। अब वह नीच-ऊँच का भेद भी भीड़ भूल गई। 'जय भक्तराज रैदास' की पुकार भी बारम्बार आकाश को चीरने लगी। असंख्य लोग भक्तिमग्न हो नाचने लगे। धीरे-धीरे मीरा उठीं। उन्होंने अर्द्ध-मग्नावस्था में गाना आरम्भ किया—

मीरा मन मानी, सुरत सैल असमानी।
जब-जब सुरत लगै वा घर की पल-पल नैनन पानी ।।
ज्यों हिय पीर तीर-सम सालत, कसक-कसक कसकानी।
रात-दिवस मोहिं नींद न आवत, भावे अन्न न पानी ।।

मीरा गाते-गाते रोने लगीं। रैदास अभी पृथ्वी पर ही पड़े थे। रैदास उठे। उनका मुख आँसुओं से भीग रहा था। वे सिर नीचा किये अपनी दूकान की ओर चले। पीछे मीरा और उनके पीछे अपार भीड़ थी।

(५)

रैदास अपने आसन पर जा बैठे। अधसिला जूता सामने रक्खा था मीरा उनके सम्मुख एक चटाई के टुकड़े पर बैठी थीं। सड़क पर असंख्य नर-नारी खड़े थे। मीरा करबद्ध ध्यान से भक्तराज की वाणी सुन रही थीं। भक्तराज कंपित कण्ठ और गद्गद् स्वर से हृदय के गंभीर प्रदेश से भक्ति-रस के पद सुना रहे थे। समुद्र की तरह गम्भीर उमड़ती भीड़ सन्न हो रही थी।

अन्त में मीरा ने संकेत किया। दासियों ने स्वर्ण-मुद्राओं से भरे दो थाल मीरा के सम्मुख रक्खे। कुछ गन्ध-द्रव्य और बहुमूल्य वस्त्र भी थे। मीरा ने करबद्ध कहा—'गुरुवर! दासी की यह तुच्छ भेंट स्वीकार करें।'

रैदास ने स्वर्ण-समूह को देखा। उनके मुख पर हास्य की रेखा आई। उन्होंने सामने से अधसिले जूते को हाथ में लेकर कहा—"मीरा माँ! ये स्वर्ण-मुद्राएँ मेरे किस काम की हैं? मैं इन्हें क्या करूँगा? रक्खूँगा कहाँ? यह देखो, मैं प्रतिदिन दो जोड़े जूते आसानी से बना लेता हूँ। एक को बेंचकर गृहस्थी पालता हूँ, दूसरे को बेंचकर साधु-सन्तों की सेवा, जो बनती है, कर लेता हूँ। मेरा काम अबाध रूप से चल रहा है। ये बहुमूल्य वस्त्र भला यह बूढ़ा क्या करेगा?" मीरा ने हठ न किया। उन्होंने संकेत किया। समस्त द्रव्य उसी क्षण साधु-सन्तों को गुरु रैदास के नाम पर बाँट दिया गया। जनता फिर "जय मीरा, जय गुरु रैदास भक्त!" चिल्ला उठी।

———

श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी

निंदिया लागी

कालेज से लौटते समय मैं अक्सर अपने नये बँगले को देखता हुआ घर आया करता। उन दिनों वह तैयार हो रहा था। एक ओवरसियर साहब रोजाना, सुबह-शाम देख-रेख के लिये आ जाते थे। वे मझले भैया के सहपाठी मित्रों में से थे। लम्बा कद, गौरवपूर्ण लम्बी नाक—खूबसूरत और मुख पर उल्लास का अभिनव आलोक। गम्भीर भी होते, तो प्रायः मालूम यही होता कि मुस्करा रहे हैं।

नाम उनका बेनीमाधव था और अवस्था उनकी अब पैंतालीस वर्ष से ऊपर जान पड़ती थी। मिस्त्री और मजदूर, सब मिलाकर, कोई पच्चीस-तीस व्यक्ति काम कर रहे थे। मजदूरों में कुछ स्त्रियाँ भी थीं।

एक दिन मैंने देखा, छत कूटी जा रही है। कूटने वालों में स्त्रियाँ ही हैं, अधिकांश रूप से। दो पुरुष भी हैं, लेकिन वे जरा हटकर, एक कोने में हैं। स्त्रियाँ छत कूटती हुई एक गाना गा रही हैं। यों उनका गायन कुछ विशेष मधुर नहीं है, किन्तु अनेक सम्मिलित स्वरों के बीच में एक अत्यन्त कोमल स्वर भी है। तभी मैं उनके पास जाने को तत्पर हो गया। मुझे देखना था कि वह जो गाना गा रही है और जिसका कंठ इतना मधुर है, उसका रूप भी कुछ है या नहीं। मैं मानता हूँ कि यह मेरी दुर्बलता थी, किन्तु उन दिनों मेरी समझ में यह कैसे आती ?

एकाएक पहले तो ओवरसियर साहब सामने आ गए। बोले—"आ गये छोटे भैया ?"

मैंने उनकी ओर देख कर जरा सा मुस्करा दिया और कहा—"जान तो मुझे भी ऐसा ही पड़ता है।"

हँसते हुए उन्होंने कहा—"लेकिन दरअसल आप आये नहीं। आप समझते हैं कि दुनियाँ की नजरों में जो आप यहाँ मौजूद हैं, इतने से ही मैं यह मान लूँ कि आप पूरे सोलह आने भर आ गये हैं? और जो कहीं आप अपना कुछ छोड़ आये हों, तो?"

वे तब इतना कहते-कहते मेरे निकट बिलकुल निकट आ गये। बोले—"जब मैं अपने इंजीनियरिंग कालेज में पढ़ता था, मैं कैसा था, सच जानिये, आपको देखकर जब मुझे उसकी याद आती है, तो जी मसोसने लगता है। तबीयत चाहती है कि अपने को क्या कर डालूँ, जिससे कुछ शान्ति मिले। लेकिन फिर यही सोचकर सन्तोष कर लेता हूँ कि मनुष्य की तृष्णा का अन्त नहीं है। न आकाश में, न महासागर के अतल में, न गिरि-गह्वर में—संसार में कहीं भी कोई ऐसा स्थान नहीं मिल सकता, जहाँ पहुँच कर मनुष्य कामना से मुक्त हो सके।"

बेनी बाबू के मुख पर अगमनीय गम्भीरता की छाया थी, यद्यपि अपने विकल हाल में वे उसे छिपाना चाहते थे। मैंने कहा—"आप मेरे अध्ययन की चीज हैं, यह मुझे आज मालूम हुआ।"

एक ओर चलते हुए वे बोले—"अभी आपको कुछ भी मालूम नहीं हुआ है।"

किन्तु बेनी बाबू की इतनी-सी बात से मेरे मन का कुतूहल अभी शान्त नहीं हो पाया था, इसलिये मैं उनके पीछे चल दिया।

घूमते, काम देखते हुए, एक मिस्त्री के पास जाकर वे खड़े हो गये। वह आर्च बनाने जा रहा था। बोले—"देखो जी मिस्त्री, पत्तियाँ और फूल बनाना ही काफी नहीं है। टहनी और उसमें उभड़े हुए कांटे भी दिखाने होते हैं। माना कि नकल नकल है, असल चीज वह कभी हो नहीं सकती, किन्तु असल चीज की जो असलियत है, गुण के साथ दुर्गुण भी, नकल में यदि उसको स्पष्ट न किया जा सका, तो वह नकल भी नकल नहीं हो सकती। बनाने में तुमको अगर दिक्कत हो, तो मैं नमूना दे जा सकता हूँ, लेकिन मेरी तबियत

की चीज अगर तुम न बना सके, तो मैं कह नहीं सकता कि आगे चलकर तुम्हें उसका क्या फल भोगना पड़ेगा।''

मिस्त्री वृद्ध था। उसके बाल पक गए थे। उसकी आँखो पर पुरानी चाल का चश्मा चढ़ा हुआ था। बड़े गौर से वह वेनी बाबू की ओर देखने लगा, लेकिन उसने कुछ कहा नहीं। तव वेनी बाबू वहाँ और अधिक ठहर न सके।

अब वे आँगन में एक टब के पास खड़े थे। नल का पानी टब में गिर रहा था। मैं थोड़ा पीछे था। जब उनके निकट पहुँचा तो वे बोले—"आपने इस मिस्त्री की आंखों को देखा? वह कुछ कह नहीं सका था, लेकिन उसकी आंखों ने जो बात कह दी, मैं उसे सहन नहीं कर सका। वह समझता है, मैंने फल भोगने की बात कह के उसको चोट पहुँचाने, उसका अपमान करने की चेष्टा की है, किन्तु वह नहीं जानता, जान भी नहीं सकता, कि मेरी बात का कोई उत्तर न देकर उसने मुझ पर कैसा भयङ्कर आघात किया है? एक वह नहीं, मालूम नहीं कितने आदमी आपको ऐसे मिल सकते हैं, जो मुझे गलत समझते हैं। आज पन्द्रह वर्षों से, बल्कि और भी अधिक काल से, मुझे जहाँ-कहीं भी मकान बनवाने का काम पड़ा है, मैंने उस मिस्त्री को अवश्य बुलाया है। मैंने काम के सम्बन्ध में कभी-कभी तो उसे इतना डाँटा है कि वह रो दिया है, तो भी कभी ऐसा अवसर नहीं आया कि उसने मुझे तीखा उत्तर दिया हो। उसका वही पुराना चश्मा है; वैसे ही भीतर तक प्रविष्ट हो जाने वाली आँखें। उसने कभी मजदूरी मुझसे तय नहीं की। और कभी ऐसा अवसर नहीं आया, जब काम समाप्त हो जाने पर मजदूरी के अतिरिक्त, उसने दस पन्द्रह रुपये पुरस्कार न प्राप्त किये हों, किन्तु इन सब बातों को अच्छी तरह समझते हुये भी डाँटना तो पड़ता ही है, क्योंकि उससे कलाकार की सुप्त कल्पना को जागरण मिलता है।''

अब वेनी बाबू घूमते-फिरते वहीं जा पहुँचे, जहाँ स्त्रियाँ छत कूट रही थीं। उन्होंने एकाएक जो हैटधारी हम लोगों को देखा, तो उनका गान बन्द हो गया। तब मेरे मन में आया कि इससे तो यही अच्छा था कि हम लोग यहाँ न आते, और कुछ नहीं तो सगीत का वह मृदुल स्वर तो कानों में पड़ता।

ग्रोर वह संगीत भी कैसा ? एकदम ग्रसाधारण। उसकी टेक तो कभी भूल ही नहीं सकती। जैसी नन्हीं वैसी ही भोली।

"निंदिया लागी—मैं सोइ गई गुइयाँ।"

बेनी बाबू ने खड़े-खड़े इधर-उधर देखा ग्रौर कहा—"देखो इधर, इस तरह नहीं पीटना होता कि चोटों की ग्रावाज का सिलसिला बिगड़ जाय। मुँगरी की ग्रावाज सारी-की सारी एक बारगी एक साथ होनी चाहिए ग्रौर देखो, ग्राज इस छत की पिटाई का काम खतम हो जाना चाहिए।"

रामलखन बोला—"सरकार ग्राज कैसे पूरा होगा ? दिन ही कितना रह गया है ?"

"बको मत रामलखन, काम नहीं पूरा होगा, तो पैसा भी न पूरा होगा समझते हो न ? काम का ही दूसरा नाम पैसा है।"

रामलखन चुप रह गया।

बेनी बाबू भी चल दिये, लेकिन चलने के साथ ही पिटाई की ग्रावाज, उसकी धमक, उसकी गति ग्रौर चूड़ियों की खनक ग्रौर 'निंदिया लागी' का स्वर ग्रतिशय गम्भीर हो गया। मैंने बेनी बाबू से कहा—"ग्राप काम लेना खूब जानते हैं।"

वे हँसते-हँसते बोले—"मैं जानता बहुत कुछ हूँ भैया, लेकिन जानना ही काफी नहीं होता। ज्ञान से बढ़कर जो वस्तु है, उसको भी जानना होता है ग्रौर उसे मैं ग्रभी तक जान नहीं सका ?"

मैंने पूछ लिया—"वह क्या ?"

वे बोले—"सत्य का ग्रहण।"

मैंने कहा—"सिर्फ पहेली न कहिए, उसे समझाते भी चलिए।"

वे तब एक पेड़ के नीचे, सड़क पर ही एक ग्रोर, कुर्सियाँ डलवा कर बैठ गए ग्रौर बोले—"ये स्त्रियाँ जो यहाँ मजदूरी करने ग्राई हैं, कितने सबेरे घर से चलती हैं ग्रौर कब पहुँचेंगी ? कोई ग्रपने घर में बच्चों को छोड़ ग्राई हैं, किसी का पति खेत में काम करने गया होगा। किसी के कोई होगा ही नहीं ग्रौर काम करते-करते ग्रगर इनको उनकी सुधि ग्रा जाती है ग्रौर काम की गति में क्षणिक मन्दता उत्पन्न हो ही उठती है, तो वह भी ग्राज की हमारी

इस सामाजिक व्यवस्था को सहन नहीं है। और तारीफ यह है कि हम समझ लेते हैं कि हम बड़े ज्ञानी हैं। हम यह देखकर संतोष कर लेते हैं कि जो स्त्री यहाँ पर मजदूरी कर रही है, हमको सिर्फ उसी से मतलब है, उसी की मजदूरी हम दे रहे हैं, किन्तु हम यह सोचने की जरूरत ही नहीं समझते कि वह स्त्री अपने जगत को लेकर क्या है? जो बच्चा उसने उत्पन्न किया है. वह भी तो अपने पालन-पोषण का भार अपनी माँ पर रखता है? पर हम लोग यहाँ तक सोचना ही नहीं चाहते। हमारे स्वार्थों ने सत्य को कितनी निरंकुशता के साथ दबा रखा है।

बेनी बाबू चुप हो गये। एक ओर खुले अम्बर में विहँगावलियाँ अपने पंखों को फैलाये नितान्त निर्बन्ध हँसी-खुशी के साथ, उड़ी चली जा रही थीं। एक साथ हम दोनों उधर देखने लगे। किन्तु बराबर उधर देखने के बदले मैंने एक बार फिर बेनी बाबू को ही देखा। उनके मस्तक के ऊपर चँदोवा खुल आया था। उसमें नन्हें-नन्हें एक-आध बाल ही अवशिष्ट थे। वे अब सांध्य आलोक में चमक रहे थे। उनकी खुली आँखें यद्यपि चश्मे के भीतर थीं, तो भी मुझे प्रतीत हुआ, जैसे वे कुछ और भी फैल गई हैं। इसी क्षण वे बोले—अब यह काम आगे न करूँगा। लेकिन............"

उनका यह वाक्य अधूरा रह गया। जान पड़ा, वे कोई निश्चय कर रहे हैं और रुक-रुक जाते हैं। रुक इसलिये नहीं जाते कि रुकना चाहते हैं। रुक इसलिए जाते हैं कि रुकना नहीं चाहते।

तभी वे फिर बोले—"तुम उस बात को अभी समझ नहीं सकोगे; लेकिन ऐसी बात नहीं है कि उस बात के समझने की तुम्हारी क्षमता कुन्द है। देखता हूँ, तुम विचारशील हो और तभी मैं कहना भी चाहता हूँ कि आदमी तो अपने विश्वासों को लेकर खड़ा है, लेकिन जो आदमी अपने विश्वासों को लेकर भी नहीं खड़ा होता वह भी क्या आदमी है? वह आदमी नहीं है, वह पशु है—पशु। लेकिन कैसे कहूँ कि पशु भी अपने विश्वासों के विरुद्ध खड़ा हो सकने वाला प्राणी है! वह तो.....................
वह तो, बल्कि अपनी प्रवृत्तियों का ही स्वरूप होता है और यह मनुष्य, छिः। इससे भी अधम क्या कोई स्थिति है?

मैंने देखा, वह वातावरण तो अब अतिशय गम्भीर हो गया है और उन दिनों इस तरह की निरी गम्भीरता मुझे जरा कम पसन्द आती थी, बल्कि साथी लोग जब ऐसे व्यक्तियों का मजाक उड़ाते, तो उस दल में मैं भी सम्मिलित हो जाया करता था। बात यह थी कि उस समय एक दूसरा दृष्टिकोण हम लोगों के सामने रहता था। हम सब यही मानते थे कि जीवन तो हँसी-खेल की चीज है। सर्वथा अनिश्चित और चरम अकल्पित जीवन के थोड़े से दिनों का रोना रोने या सोच-विचार में निपीड़ित-निर्जीव कर डालने में कौन-सी महत्ता है ?

इसलिए मैंने कह दिया—"इन लोगों के गानों में बीच का यह—हाँ, यह स्वर—मुझे बड़ा कोमल लगता है।"

निमेषमात्र में सम्यक् बदल कर—

"जाओ न, नजदीक से जाकर सुन आओ। हैट यहीं रख जाओ। फिर भी अगर वे गाना बन्द कर दें, तो कहना काम में हर्ज नहीं होना चाहिये, क्योंकि गाने के साथ छत कूटने का काम अधिक अच्छा होता है, ऐसा मैं सुनता आया हूँ।"—बेनी बाबू ने मुस्कराते हुए कहा।

मैं चला गया। चुपचाप बहुत धीरे-धीरे, पैर सम्हाल कर। तो भी उनको मालूम हो ही गया। काम की गति में कुछ तीव्रता जरूर जान पड़ी, किन्तु गाना बन्द हो गया।

मैंने कहा, "तुम लोगों ने गाना क्यों बन्द किया ?"

खिलखिल के कुछ मदिर कलहास। कभी इधर, कभी उधर।

किसी ने अपनी सखी से कहा—उसे जरा धक्का देकर—"गा री पत्ती, चुपचाप क्यों हो गई ?"

"तू ही क्यों नहीं गाती ? छोटे भैया के सामने........"

"हूँ बडी लाजवन्तो बनी है। जैसे दुलहे का मुँह ही न देखा हो।"

मैंने कहना चाहा—'लड़ो मत। मैं चला जाता हूँ।' लेकिन मैं कुछ कह न सका। चुपचाप चला आया। चला तो आया, किन्तु उस खिलखिल और अपने सामने गाने से लजानेवाली उस पत्ती को मैंने फिर देखने की चेष्टा नहीं की।

कैसे उल्लास के साथ आया था, किन्तु कैसा भीषण द्वन्द्व लेकर चल दिया। वेनी बाबू ने बड़े प्यार से पूछा—"कह आओ ?"

मैंने कहा—"क्या कह जाऊँ।" वही बात हुई। उन लोगों ने गाना बन्द कर दिया।"

"फिर तुमने वह बात नहीं कही !"

"उसे मैं कह नहीं सका।"

"तो यह कहो कि तुम खुद ही लजा गये।"

मैं चुप रहा। जिसने कभी चोरी नहीं की, जो यह भी नहीं जानता कि चोरी कैसे की जाती है, वह चीज क्या है, यदि वह कभी उसके दलदल में पड़ जायगा, तो उससे सफाई के साथ निकल कैसे सकेगा ? वह तो निश्चय-पूर्वक फँस जायगा वही गति मेरी हुई। क्या मैं जानता था कि वेनी बाबू मुझे ऐसी जगह ले जायँगे, जहाँ पहुँच कर फिर मुक्ति का कोई मार्ग ही दृष्टि-गत न होगा।

वेनी बाबू बोले—"अच्छा एक काम कर आओ। रामलखन से कहना, अगर आज यह काम किसी तरह पूरा न दीख पड़े, तो कल ही पूरा कर डालना ठीक होगा। वेनी बाबू से मैंने कह दिया है कि मजदूरों से उतना ही काम लिया जाय, जितना वे कर सकें।"

मैं उनकी ओर देखता रह गया। मेरे मन में आया—यह आदमी हैं कि देवता।

मुझे आवाक् देखकर उन्होंने पूछा—"सोचते क्या हो !"

मैंने कहा—"कुछ नहीं। इतने दिन से आपका परिचय प्राप्त है, किन्तु कभी ऐसा अवसर नहीं आया कि आपको इतने निकट से देख पाता।"

वे बोले—"यह सब कोई चीज नहीं है छोटे भैया, न्याय और सत्य से हम कितनी दूर रहते हैं, शायद हम खुद नहीं जानते। अच्छा, जाओ जो काम तुम्हें दिया गया है उसे पूरा कर आओ।"

मैं फिर उसी छत पर जा पहुँचा, पर अब की बार मैंने देखा, गाना चल रहा है लेकिन एक ही गाना तो दिन भर चल नहीं सकता। तो भी मुझे उसी गाने के सुनने की इच्छा ही आई। साथ ही मैंने यह भी सोचा कि

अभी कुछ समय पहले बेनी बाबू ने कहा था, मनुष्य की कामनाओं का अन्त नहीं है।

मैंने जो रामलखन को बुलवाया, तो वह सिटपिटा गया, बोला—"छोटे सरकार, क्या हुक्म है!"

मैंने कहा—"बेनी बाबू क्या तुम लोगों से कुछ ज्यादा सख्ती से काम लेते हैं?"

वह चुप ही बना रहा, सत्यासत्य कुछ भी नहीं कह सका। तब मैंने समझ लिया कि डर के कारण वह उनके विरुद्ध कुछ कहना नहीं चाहता, इसीलिए चुप है, लेकिन जब मैंने कहा—"मैं उनसे कुछ कहूँगा नहीं। मैं तो सिर्फ़ असल बात जानना चाहता हूँ। बिलकुल निडर होकर बतलाओ।"

तब उसने कहा—"काम सख्ती से लेते हैं तो मजदूरी भी तो दो पैसा ज्यादा और वक्त पर देते हैं। ऐसे मालिक मिलें तो मैं जिन्दगी भर उनकी गुलामी करूँ।"

मैंने कहा—"तुम ठीक कहते हो। उन्होंने मुझसे कहला भेजा है कि अगर काम आज नहीं पूरा होता है, तो कल ही पूरा कर डालना। ज्यादा तकलीफ उठाने की जरूरत नहीं है।"

रामलखन बोला—"पर छोटे भैय्या, उन्होंने पहले ही बहुत सोच-समझ कर हुकुम दिया था। काम अगर आज पूरा न होता तो कूटने के लिए चूना कल हम लोगों को इस हालत में न मिलता, वह सूख जाता। तब उस पर कुटाई ठीक तरह से कैसे होती? इसके सिवा कल गुड़िया का त्योहार है—छुट्टी का दिन है। मैंने पीछे जो सोचा, तो मुझे इन सब बातों का ख्याल आ गया। काम पूरा हो जायगा। बहुत कुछ तो हो भी गया है। थोड़ा-सा ही बाकी रह गया है। वह भी शाम होते-होते पूरा हो जायगा। तकलीफ तो थोड़ी हुई—किसी-किसी के हाथों में छाले पड़ गये, लेकिन यह बात आप उनसे जाकर न कहें सरकार, इतनी बात मेरी भी रख लें।"

रामलखन की बात मानकर सचमुच मैंने बेनी बाबू से यह नहीं कहा कि स्त्रियों के हाथों में छाले पड़ गये हैं।

किन्तु उसी दिन, सायंकाल एक ओर जीने की दीवार गिर गई। छुट्टी

हो गई। मजदूर लोग इधर-उधर से आ आकर जाने लगे थे कि अररर धम् का भीषण स्वर और एक क्षीण 'आह।'

लोग दौड़ पड़े। लोग गिने भी गये। सब मिलाकर उन्तीस आदमी आज काम पर थे, लेकिन हैं केवल सत्ताईस।

"तो दो आदमी दब गये क्या ?"

"हाँ, यह हल्का स्वर जो आ रहा है यह !.........।"

ईंटें उठाई जाने लगीं, तो एक स्त्री ने कहा—"हाय ! हाय ! पत्ती है—पत्ती। तभी मैं सोच रही थी—यह दीख नहीं पड़ती, शायद आगे निकल गई। हाय, यह तो चल बसी।"

उससे कौन कहता कि हाँ, वह आगे निकल गई।

लेकिन एक क्षीण स्वर तब भी ध्वनित होता रहा।

"अरे, और उठाओ ईंटों को। हाँ, इस खंजड़ को। अभी एक आदमी और भी तो है ?"

एक साथ कई आदमियों ने मिलकर एक दीवार के टुकड़े को उठाया। वह ईंटों के ऊपर गिरा था और बीच में थोड़ी जगह शेष रह गई थी। उसी में मुड़ा हुआ अचेत मिला गिरधर।

कुछ दिनों में गिरधर अच्छा हो गया। उसकी एक रीढ़ टूट गई थी, लेकिन उसका जीवन उसकी रीढ़ से अधिक बलिष्ट था।

उस बँगले को, फिर आगे बेनी बाबू नहीं बनवा सके कुछ दिनों तक काम बन्द रहा और फिर बीमार पड़ गये।

मनुष्य का यह जीवन क्या इतना अस्थिर है ? क्या वह फूल के दल से भी अधिक मृदुल है ? क्या वह छुई मुई है ? उन दिनों मैं यही सोचता रहा था। वे बीमार थे, और उनकी बीमारी बढ़ती जाती थी। मैं देख रहा था, शायद बेनी बाबू तैयारी कर रहे हैं, लेकिन एक दिन मैंने उन्हें दूसरे रूप में देखा। मैंने देखा कि मृत्यु को उन्होंने मसल डाला है, पीस डाला है। वह छटपटा रही है। वह भाग जाना चाहती है।

वे एक पलंग पर लेटे हुए थे, बहुत धीरे-धीरे बातें कर रहे थे। उनके पास एक नौजवान बैठा हुआ था। वह मौन, और बेनी बाबू उससे कुछ

पूछ रहे थे। उसी क्षण मैं पहुँच गया। वे उठने को हुए, तो नौकर ने उन्हें उठा दिया और उनके पीछे तकिये लगा दिये। पहले आँखों पर चश्मा नहीं था, अब उन्होंने चढ़ा लिया।

वे बोले—"सुनते हो मुल्लू, मैं तुमको रोने नहीं दूँगा। रोने दूँ, तो मैं अपने को खो दूँगा! लेकिन मैं इतना सस्ता नहीं हूँ। मैं मरना नहीं चाहता, इसीलिये मैं तुमको प्रसन्न देखना चाहता हूँ। बतलाओ, तुम किस तरह से प्रसन्न हो सकते हो? मैं और साफ कह दूँ? मैं तुमको कुछ देना चाहता हूँ। बोलो तुम कितने रुपये पाकर खुश हो सकते हो? लेकिन तुम यह सोचने की भूल न करना कि ये रुपये तुम्हारी स्त्री की कीमत हैं। एक स्त्री—एक नवयुवती, एक सुन्दरी—को क्या रुपयों में तोला जा सकता है? छिः यह तो एक मूर्खता की बात है—जंगलीपन की। लेकिन मैंने अभी तुमको बतलाया न, मैं तुमको खुश करना चाहता हूँ।"

"ओह एक नवयुवती—एक सुन्दरी।"

"तो क्या पत्नी सुन्दर थी?"

"तो उसका कंठ ही कोमल न था, वरन्.........

बेनी बाबू बोले—"मैं जानता हूँ कि तुम कुछ कहोगे नहीं।"

"अच्छा तो मैं ही कह देता हूँ—उसके बच्चे की परवरिश के लिए दस रुपये हर महीने मुझसे बराबर ले जाया करना, समझे। यह लो दस रुपये। आज पहिली तारीख है। हर महीने की पहिली तारीख को ले जाया करना।"

जेब से नोट निकालकर उन्होंने मुल्लू के आगे फेंक दिया। मुल्लू तब कितना खुश था, इसको मैंने जाना। किन्तु बेनी बाबू ने जितना कुछ जाना, उसको मैं न जान सका।

मुल्लू जब छलकते आनन्दाश्रुओं के साथ चल दिया, तो बेनी बाबू बोले—"मेरा ख्याल है, अब यह खुश रहेगा। क्यों? तुम क्या सोचते हो?"

मैं चकित था, प्रतिहत था, अभिभूत था, तो भी मैंने कह दिया—"आपने यह क्या किया?"

"अहो तुम मुझसे पूछते हो, छोटे भैय्या। यह क्या किया ? यह मैंने अपने को भुलाने के लिये किया है, क्योंकि मनुष्य अपने को भुलावे में रखने का अभ्यासी है। मैंने देखा—मैं एक भूल कर रहा हूँ। मैं मृत्यु को बुला रहा हूँ। तब मैंने सोचा—मैं ऐसी भूल नहीं करूँगा, जिसमें अपने आपको भी मैं भुला सकूँ ! जीवन में एक ऐसा क्षण भी आता है, जब हमको अपने-आपको भुलाना पड़ता है। यह मेरा ऐसा ही क्षण है। लेकिन यह मेरी भूल नहीं है, यह तो मेरा नवजीवन है—जागरण।"

यह कथा यहीं समाप्त हो गई है। किन्तु इस कथा के प्राण में जो अंतर्कथा है, उसकी बात कहता हूँ ! उपर्युक्त घटना के पीछे कुछ वत्सर और जुड़ गये हैं। यह बँगला अब मुझे रहने के लिये दिया गया है। मैं अब अकेला ही इसमें रहता हूँ। कई सहस्र पुस्तकों के महत ज्ञान से आवृत मैं—लोग कहते हैं—प्रोफेसर हूँ—जीवन और जगत् का तत्वदर्शी ! लेकिन मैं अपनी समस्या किससे कहूँ—अपना अन्तर किसको खोलकर दिखाऊँ। बच्चे सुनें तो हँसें और बीवी सुने तो कहे—पागल हो गये हो ?

कभी-कभी रात को घोर सन्नाटे में स्वप्नाविष्ट-सा मैं कुछ अस्पष्ट ध्वनियाँ सुनने लगता हूँ। कोई खिल-खिल हँस रही है। कोई धक्का देकर कह रही है—गा री पत्ती, और चूड़ियाँ खनक उठती हैं, छत कुटने लगती है। और एक कोमल, अत्यन्त कोमल गायन-स्वर फूट पड़ता है। "निंदिया लागी.........।"

और उसके हाथों में जो छाले पड़ गये हैं, वे वहाँ से उठकर मेरे हृदय से आकर चिपक गये हैं।

———

श्री यशपाल

मेरी जीत

कटहल इन्हें बहुत पसन्द है। इसलिए कटहल की तरकारी, बेसन देकर सदा अपने ही हाथों बनाती हूँ। रसोई में थी। दरवाजे की घण्टी बज उठी। आड़ से झाँककर देखा, एक मामूली-सा बूढ़ा आदमी था। उसी हालत में आकर पूछा—"क्या चाहिए ?"

उसने एक पुर्जा दिखाया ! पुर्जे पर अँग्रेजी में 'इनका' नाम लिखा था। जवाब दिया—"हाँ, साहब दफ्दर गये हैं। क्या चाहिए ?"

बगल में थमा एक पिल्ला आगे बढ़ बूढ़े ने समझाया—'साहनी साहब ने आपके यहाँ यह पिल्ला दिखाने के लिये भेजा है। तब याद आया, कुत्तों का जिक्र चलने पर साहनी से कहा था—"अच्छी जात का कोई कुत्ता मिले तो बताइयेगा।'

पिल्ला था खूबसूरत। गदबदा-गदबदा। सफेद ऊन के बंडल जैसा, चमलीले बटन जैसी आँख, प्यारा-प्यारा।

पूछा—'क्या लोगे ?' उत्तर मिला—'पाँच रुपये।'

मुँहमाँगी तो मौत भी नहीं मिलती, कीमत का तो कहना क्या है ? कहा—"पाँच रुपये तो बहुत ज्यादा हैं, पिल्ले बीसियों सड़क पर रुलते फिरा करते हैं।"

बूढ़े ने पिल्ले को एक कान से पकड़कर लटकाया और फिर पूँछ से। पिल्ला झपट कर रह गया, चिल्लाया नहीं।

बूढ़े ने कहा—"हुजूर मामूली कुत्ता नहीं, विलायती नसल का असली पनियर है। पैरों में गन लीजिये, पूरे बीस नाखून हैं। किसी अंग्रेज से खरीदियेगा तो बीस क्या पच्चीस से कम नहीं लेगा।"—आखिर चार रुपये में फैसला हो गया।

पिल्ले के लिये एक चटाई बिछा उस पर फटे कम्बल का टुकड़ा बिछाया। एक कटोरी में दूध उसके आगे रक्खा। पिल्ला अभी तक माँ के दूध पर ही रहा होगा। जबान से लप-लपकर दूध पीना उसे आता न था। कटोरी के दूध में कई दफे मुँह छुआ देने पर वह केवल होंठ और नाक चाटकर रहा गया।

सूरज डूबे, ये आये और मुझे पिल्ले में उलझी देख त्योरियाँ चढ़ा पूछा—'यह क्या ?'

'पिल्ला है।'—उत्तर दिया।

बोले 'सो तो है ! हमने कब कहा हाथी है। पर यह गन्दगी हमें पसन्द नहीं।' मालूम हुआ, कुत्ते-बिल्लियों से इन्हें नफरत है।...होगा ! अपने दिल में कहा—धीरे-धीरे सब ठीक हो जायगा।

पिल्ले की कूँ-कूँ, सुनकर इन्होंने फिर कहा—'हटाओजी, यह क्या मुसीबत पाल ली तुमने ?'

मुस्कराकर समझाया—"ऐसे घबराते क्यों हो ? यों तो आदमी का बच्चा भी चिल्लाता है। बड़ा हो जायगा तो घर की रखवाली करेगा, अच्छा लगने लगेगा। कुत्ता कितना वफादार जानवर होता है ?'

माँ की याद से और पेट की भूख से पिल्ला रात भर चिल्लाता रहा। शायद उसे जाड़ा भी लग रहा था। उसके चिल्लाने से ये झल्ला उठते। इसलिए रात में थोड़ी-थोड़ी देर बाद उठ उसे पुचकार कर चुप कराने की कोशिश करती रही।

सुबह उठते ही उन्होंने कहा—'फेंको इस गन्दे को !' डर और रहम के आँसू आँखों में भरकर मैंने कहा—'फेंकूँ कहाँ ? इसकी माँ का भी तो पता मालूम नहीं, जो वहाँ पहुँचा दिया जाय। मर जायगा बेचारा कहीं !'

उनका गुस्सा और बढ़ गया—'मर जायगा तो हम क्या करें ? हमसे पूछकर लिया था ? यह पिल्ला इस घर में रहेगा तो हम नहीं रहेंगे।' इतने नाराज हुए कि दफ्तर जाने के समय तक बोले ही नहीं।

रात भर में ही उस बे माँ-बाप के पिल्ले पर मुझे इतना स्नेह उमड़ आया ! घर से उसे निकालने की बात सोचते कलेजा फटता था। दिल-ही-दिल में रो रही थी, हाय, मैंने उसे क्यों ले लिया ? इनसे पूछे बिना पिल्ले को लेने की भूल मैंने क्यों की ? घर इनका है, मेरा नहीं ?

दफ्तर जाते समय उस पिल्ले की ओर तिर्छी निगाह से देखकर इन्होंने कहा—'खाना खाने हम नहीं आयेंगे। हमारा इन्तजार मत करना।'

मेरा दिल बैठ गया। डरते डरते कहा—"पिल्ले को तो मैं अभी मेहतर के हाथ भिजवाये देती हूँ... खाना खाने आइयेगा न ? इन्होंने सिर हिला दिया—'अच्छा।' और चले गये।

इनके चले जाने के बाद मैं खूब रोई और फिर माली को बुलाकर समझाया—'तुम्हारे बच्चे के लिये खिलौना हो जायगा, लो इस पिल्ले को ले जाओ। इसके लिये दूध दोनों समय दे दिया करेंगे। इनाम भी देंगे। लेकिन साहब के सामने पिल्ला न आये ! इस ढङ्ग से पिल्ले का प्रबन्ध हो गया।

इनके दफ्तर चले जाने पर मैं पिल्ले को ले आती। पहले रूई की बत्ती बनाकर उसे दूध पिलाया, फिर दूध में रोटी मीस कर खिलाना शुरू किया। महीने भर में वह कूदने-फाँदने लगा। इनके लौटने से पहले ही मैं पिल्ले को माली के यहाँ सहेज आती। मन में दुःख था कि देखो, हमारा पिल्ला है और दूसरे का होकर रहता है। जहाँ तक होता उसे अपने से हिलाने की कोशिश करती। वह मेरी आवाज पहचानता था। बुलाने से दौड़ा आता। परन्तु माली के सामने रहने पर उसी की ओर लपकता।

एक दिन मैं दोपहर में पिल्ले से खेल रही थी। दूध रोटी खिलाकर कटोरी पास ही रखी थी। उस रोज था शनिवार, पर मुझे याद ही न रहा। बरामदे में उनके जूतों की खट-खट की आवाज सुनाई दी। मैं घबरा गई। अब हो क्या सकता था ? वे भीतर आ गये तब भी पिल्ला मेरी गोद में ही था। झपटकर उठ खड़ी हुई।

पिल्ले की ओर देख इन्होंने पूछा—"यह क्या ?...और मँगा लिया ?... हमने मना कर दिया था !"

प्राण सूख गये। मुँह से निकल गया—"और कहाँ...? वही तो है !" विस्मय से इन्होंने पूछा—"क्या ?"

—"हाँ, माली के यहाँ रख दिया था।"

वे पिल्ले की ओर आश्चर्य से देखते रहे। पिल्ला उनके हृदय की घृणा और क्रोध को न समझ उनकी पतलून से पौंचे और जूते के फीते खींच-खींच, उलटा सीधा कूद उन्हें खुश करने की कोशिश कर रहा था। डर के मारे पिल्ले को ऊपर उठाया और माली के बच्चे को पुकार उसे थमा दिया।

"थके होंगे जरा लेट जाओ ?"—इनसे कहा और खुद कमरे में उनके लिये बदलने के कपड़े लेने चली गई।

भय लग रहा था, बहुत बिगड़ेंगे। ऐसी गलती हो गई, क्या करूँ। मन की घबराहट के कारण कुरता कमीजों में और धोती चद्दरों में ढूँढ़ती रही। आखिर कपड़े ले, सहमते कदमों से लौटी तो देखती हूँ—कपड़े बदले बिना ही तख्त पर लेट गये हैं। पिल्ला उनके पेट पर उलटा लेटा अपने पंजों और दाँतों में नेकटाई लिये खेल रहा है। "ये" भीगी आँखों से उसकी ओर देख रहे हैं। पिल्ले की यह गुस्ताखी देख मैंने उसे नीचे उतर आने के लिने डाँटा — "हुश-हुश ?"

अपनी तर आँखें मेरी ओर उठा इन्होंने कहा—"मुझे मालूम न था कि तुम इस पिल्ले को इतना चाहती हो और इसके बिना रह न सकोगी। मेरी वजह से तुमने इतने दिन अपने कलेजे पर पत्थर रखा। क्या हर्ज है; पिल्ला यहीं रहेगा।" और पिल्ले को गोद में ले उस पर स्नेह से हाथ फेरते रहे।

मेरा दिल जाने कैसा होने लगा ? झपटती हुई गुसलखाने में चली गई। बड़े जोर का रोना आ गया। दिल भर कर रोई कि उनसे जीत गई। पर जीत कैसे गई ?......अपनी हार स्वीकार करके।

स्त्री यदि जीतना चाहती है तो उसका उपाय है, हारते चले जाना। उसकी अपनी इच्छा कोई न हो, उसकी अपनी राय कोई न हो तो वह सुखी रह सकती है। परन्तु यह सुख और जीत कैसी ?...ऐसी कि जीतने की इच्छा कभी न करे...अपने को कुछ न समझे।

श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

डाची

काटपी[1] सिकन्दर के मुसलमान जाट बाकर को अपने माल की ओर लालसा भरी निगाहों से ताकते देखकर चौधरी नन्दू वृक्ष की छाँह में बैठे-बैठे अपनी ऊँची घरघराती आवाज में ललकार उठा—'रे-रे अठे के करै है ?" और उसकी छः फुट लम्बी सुगठित देह, जो वृक्ष के तने के साथ आराम कर रही थी, तन गई और बटन टूटे होने के कारण मोटी खादी के कुर्ते से उसका विशाल वक्षस्थल और उसकी बलिष्ठ भुजाएँ दृष्टिगोचर हो उठीं।

बाकर तनिक समीप आ गया। गर्द से भरी हुई छोटी नुकीली दाढ़ी और शरई मूँछों के ऊपर गढ़ों में धँसी हुई दो आँखों में निमित्तमात्र के लिए चमक पैदा हुई और जरा मुस्कराकर उसने कहा—"डाची देख रहा था चौधरी, कैसी खूबसूरत और जवान है, देखकर भूख मिटती है।"

अपने माल की प्रशंसा सुनकर चौधरी का तनाव कुछ कम हुआ, खुश होकर बोला—"किसी साँड, कौन सी डाची ?"

"वह पहली तरफ से चौथी" बाकर ने इशारा करते हुए कहा।

ओंकाट[2] के एक घने पेड़ की छाया में आठ-दस ऊँट बँधे थे। उन्हीं में वह जवान साँडनी अपनी लम्बी, सुडौल और सुन्दर गर्दन बढ़ाये घने पत्तों में मुँह मार रही थी! बड़े-बड़े ऊँचे ऊँटों, सुन्दर साँडनियों, काली मोटी बेडौल

---

१. काटपी = गाँव।

२. ओंकाट = एक वृक्ष-विशेष।

भैंसों, सुन्दर नागोरी सींगों वाले बैलों के सिवा कुछ न दिखाई देता था। गधे भी थे, पर न होने के बराबर। अधिकांश तो ऊँट ही थे। बहावल नगर मरुस्थल में हर होने वाली माशमण्डी में उनका आधिक्य है भी स्वाभाविक। ऊँट रेगिस्तान का जहाज है। इस रेतीले इलाके में आमद-रफ्त, खेती-बाड़ी और बारबरदारी का काम उसी से होता है। पुराने समय में जब गाय दस-दस और बैल पन्द्रह-पन्द्रह रुपये में मिल जाते थे तब भी अच्छा ऊँट पचास से कम में हाथ न आता था। अब भी जब इस इलाके में नहर आगई है और पानी की इतनी किल्लत नहीं रही, ऊँट का महत्व कम नहीं हुआ, बल्कि बढ़ा ही है। सवारी के ऊँट दो-दो सौ से तीन-तीन सौ तक पाए जाते हैं और बाही तथा बारबरदारी के भी अस्सी-सौ से कम में हाथ नहीं आते।

तनिक और आगे बढ़कर बाकर ने कहा—"सच कहता हूँ चौधरी, इस जैसी सुन्दर सांडनी मुझे मण्डी में दिखाई नहीं दी।"

हर्ष से नन्दू का सीना दुगुना हो गया, बोला—"आ एक ही के, इह तो सगली फूरटी हैं। हूँ तो इन्हें चारा फलूँसी नीरिया करूँ।"[1]

धीरे से बाकर ने पूछा—"बेंचोगे इसे?"

"तो फिर बताओ कितने की दोगे?" बाकर ने पूछा।

नन्दू ने नख से शिख तक बाकर पर एक निगाह डाली और हँसते हुए बोला—"तन्ने चाही, जै का तेरे धनी बेई मोल लेसी?"[2]

"मुझे चाहिए।" बाकर ने दृढ़ता से कहा।

नन्दू ने उपेक्षा से सिर हिलाया। इस मजदूर की यह बिसात की ऐसी सुन्दर साँडनी मोल ले, बोला—"तू कि लेसी?"

बाकर की जेब में पड़े हुए डेढ़ सौ के नोट जैसे बाहर उछल पड़ने को व्यग्र हो उठे। तनिक जोश के साथ उसने कहा—"तुम्हें इससे क्या, कोई ले, तुम्हें अपनी कीमत से गरज है, तुम मोल बताओ।"

---

१. यह एक ही क्या, यह तो सब ही सुन्दर हैं। मैं इन्हें चारा और फलूंसी (जवार और मोठ) देता हूँ।

२. तुझे चाहिए या अपने मालिक के लिए मोल ले रहा है।

नन्दू उसके जीर्ण-शीर्ण कपड़ों, घुटनों से उठे हुए तहमद और जैसे नूह के वक्त से भी पुराने जूते को देखते हुए कहा—"जा, जा, तू इशीविशी सांडनी ख़रीद ले; इसका मूल तो १६०) से कम नहीं। टालने की गरज आई, इंगो मोल तो आठ बीसी सूं घाट के नहीं।"[1]

एक निमिष के लिए बाकर के थके हुए, व्यथित चेहरे पर आह्लाद की रेखा भी झलक उठी। उसे डर था कि चौधरी कहीं ऐसा मूल्य न बता दे, जो उसकी बिसात से बाहर हो, पर अब अपनी जबान से उसने १६०) बताए तो उसकी खुशी का ठिकाना न रहा। १५०) तो उसके पास थे ही। यदि इतने पर भी चौधरी न माना, तो दस रुपये वह उधार कर लेगा। भाव-ताव तो उसे करना आता न था, झट से उसने डेढ़ सौ के नोट निकाले और नन्दू ने टालने के लिए ही मूल्य १६०) बता दिया था। वहीं मण्डी में अच्छी से अच्छी डाची भी डेढ़ सौ में मिल जाती है और इसके तो १४०) पाने की भी उसने स्वप्न तक में कल्पना न की थी। शीघ्र ही मन के भावों को मन में छिपाकर और बाकर पर अहसान का बोझ लादते हुए नन्दू बोला—"सांड़ तो मेरी दो सौ की है पण जा सागी मोल मियां तले दस छांड़ियां।[2] और यह कहते-कहते उठकर उसने सांडनी की रस्सी बाकर के हाथ में दे दी।

क्षण भर के लिए उस कठोर व्यक्ति का जी भर आया। यह सांडनी उसके यहां पैदा हुई और पली, आज पाल-पोसकर उसे दूसरे के हाथ में सौंपते हुए उसके मन की कुछ ऐसी हालत हुई जो लड़की को ससुराल भेजते समय पिता की होती है। जरा कांपती आवाज में, स्वर को तनिक नर्म करते हुए उसने कहा—'आ सांड़ सारी रहेडी है, तू इन्हे रेहड़ में ई न गेर दई।"[3] ऐसी ही, जैसे श्वसुर दामाद से कह रहा हो—"मेरी लड़की लाडो में पली है, देखना इसे कष्ट न होने देना।"

---

१. जा तू कोई ऐसी-वैसी सांडनी खरीद ले, इसका मूल्य तो १६०) से कम नहीं। टालने की गरज से कहा।

२. सांडनी तो मेरी २००) की है, पर सारी कीमत में से तुम्हें दस रुपये छोड़ दिए।

३. यह सांडनी अच्छी तरह से रखी है, तू इसे यों ही मिट्टी में न रोल देना।

आह्लाद के परों पर उड़ते हुए बाकर ने कहा—"तुम जरा भी चिन्ता न करो, जान देकर पालूँगा।"

नन्दू ने नोट अंटी में सँभालते हुए जैसे सूखे हुए गले को जरा तर करने के लिये घड़े में से मिट्टी का प्याला भरा। मण्डी में चारों ओर धूल उड़ रही थी। शहरों की माल-मंडियों में भी, जहाँ बीसियों अस्थाई नलके लग जाते हैं और सारा-सारा दिन छिड़काव होता रहता है, धूल की कमी नहीं होती; फिर इस रेगिस्तान की मंडी पर तो धूल का ही साम्राज्य था। गन्ने वाले की गड़ेरियों पर, हलवाई के हलवे और जलेबियों पर और खोंचे वाले की दही-पकौड़ी पर, सब जगह धूल का पूर्णाधिकार था। यहाँ वह सर्वव्यापक थी, सर्व-शक्तिमान थी। घड़े का पानी टांचियों द्वारा नहर से लाया गया था, पर यहाँ आते-आते कीचड़ हो गया था। नन्दू का खयाल था कि निथरने पर पियेगा पर गला सूख रहा था। एक घूँट में प्याले को खत्म करके नन्दू ने बाकर से भी पानी पीने के लिये कहा। बाकर आया था तो उसे गजब की प्यास लगी हुई थी, पर अब उसे पानी पीने की फुर्सत कहाँ? वह रात होने से पहले-पहले गाँव पहुँचना चाहता था। डाची की रस्सी पकड़े हुए वह धूल को जैसे चीरता हुआ चल पड़ा।

बाकर के दिल में बड़ी देर से एक सुन्दर और युवा डाची खरीदने की लालसा थी। जाति का वह कमीन था, उसके पूर्वज कुम्हारों का काम करते थे, किन्तु उसके पिता बाकर, भी इसी से अपना और अपने छोटे से कुटुम्ब का पेट पालता आता था। वह काम अधिक करता हो यह, बात न थी, काम से उसने सदैव जी चुराया था, और चुराता भी क्यों न, जब कि उसकी पत्नी उससे दुगुना काम करके उसके भार को वँटाने और उसे आराम पहुँचाने के लिए मौजूद थी। कुटुम्ब बड़ा नहीं था—एक वह, एक उसकी पत्नी और नन्हीं-सी बच्ची, फिर किस लिए वह जी हल्का न करता।? पर क्रूर और बेपीर विधाता! उसने उसे विस्मृति से, सुख की उस नींद से जागकर अपना उत्तर-दायित्व महसूस करने पर बाधित कर दिया, उसे बता दिया कि जीवन में सुख नहीं, आराम नहीं, दुःख भी है, परिश्रम भी है।

पाँच वर्ष हुए उसकी वही आराम करने वाली प्यारी पत्नी सुन्दर गुड़िया-सी लड़की को छोड़कर परलोक सिधार गई थी। मरते समय अपनी सारी करुणा को अपनी फीकी और श्रीहीन आँखों से बटोर कर उसने बाकर से कहा था, "मेरी रजिया अब तुम्हारे हवाले है। इसे कष्ट न होने देना।" और उसी एक वाक्य ने बाकर के समस्त जीवन के रुख को पलट दिया था। उसकी मृत्यु के बाद ही वह अपनी विधवा बहन को उसके गाँव से ले आया था और अपने आलस्य तथा प्रमाद को छोड़कर अपनी मृत पत्नी की अन्तिम अभिलाषा को पूरा करने में संलग्न हो गया था। यह सम्भव भी कैसा था कि अपनी पत्नी की, जिसे वह दिलोजान से प्यार करता था, जिसके निधन का गम इसके हृदय में अज्ञात पर्दों तक छा गया था, जिसके बाद उम्र होने पर भी, धर्म की आज्ञा होने पर भी, लोगों के विवश करने पर भी उसने दूसरा विवाह न किया था, अपनी इसी प्यारी पत्नी की, अन्तिम अभिलाषा की अव-हेलना करता !

वह दिन-रात काम करता था ताकि अपनी मृत पत्नी की उस धरोहर को अपनी उस नन्हीं-सी गुड़िया को, भाँति-भाँति की चीजें लाकर प्रसन्न रख सके। जब भी कभी वह मंडी को जाता, तो नन्हीं-सी रजिया उसकी टाँगों से लिपट जाती और अपनी बड़ी-बड़ी आँखें उसके गर्द से अटे हुए चेहरे पर जमाकर पूछती—"अब्बा, मेरे लिए क्या लाये हो?" तो वह उसे अपनी गोद में ले लेता और कभी मिठाई और कभी खिलौने से उसकी झोली भर देता। तब रजिया उसकी गोद से उतर जाती और अपनी सहेलियों को अपने खिलौने और मिठाई दिखाने के लिए भाग जाती। यही गुड़िया जब आठ साल की हुई, तो एक दिन मचलकर अपने अब्बा से कहने लगी—"अब्बा, हम तो डाची लेंगे, अब्बा हमें डाची ला दो।" भोली-भाली निरीह बालिका, उसे क्या मालूम कि वह एक विपन्न गरीब मजदूर की बेटी है, जिसके लिए डाची खरीदना तो दूर रहा, डाची की कल्पना करना भी गुनाह है। रूखी हँसी हँसकर बाकर ने उसे अपनी गोद में ले लिया और बोला—"रज्जो, तू तो खुद डाची है।" पर रजिया न मानी। उस दिन मशीरमाल अपनी साँडनी पर चढ़कर, अपनी छोटी लड़की को अपने आगे बिठाकर, दो-चार मजदूर

लेने के लिए स्वभूमि-स्थित उस काट में आये थे। तभी रजिया के नन्हें से मन में डाची पर सवार होने की प्रबल आकांक्षा पैदा हो उठी थी और उसी दिन से बाकर का रहा-सहा प्रमाद भी दूर हो गया।

उसने रजिया को टाल तो दिया था, पर मन-ही-मन उसने प्रतिज्ञा कर ली कि वह अवश्य रजिया के लिए एक सुन्दर-सी ठाची मोल लेगा। उसी इलाके में जहाँ उसकी आय की औसत साल भर में तीन आने रोजाना भी न होती थी, अब आठ-दस आने हो गई। दूर-दूर के गाँवों में अब वह मजदूरी करता। कटाई के दिनों में रात-दिन काम करता, फसल काटता, दाने निकालता, खलिहानों में अनाज भरता, नीरा डालकर भूसे के कूप बनाता, बिजाई के दिनों में हल चलाता, पैतियाँ बनाता, बीज फेंकता। इन दिनों उसे पाँच आने से लेकर आठ आने रोजाना तक मजदूरी मिल जाती। जब कोई काम न होता तो प्रातः उठकर आठ-आठ कोस की मंजिल मारकर मण्डी जा पहुँचता और आठ-दस आने की मजदूरी करके ही वापस लौटता। इन दिनों वह रोज छः आने बचाता आ रहा था, इस नियम में उसने किसी प्रकार भी ढील न होने दी थी उसे जैसे उन्माद-सा हो गया था। बहन कहती—"बाकर, अब तो तुम बिलकुल ही बदल गए हो, पहले तो तुमने कभी ऐसी जी तोड़कर मेहनत न की थी?"

बाकर हँसता और कहता—"तुम चाहती हो, मैं आयु-भर निठल्ला बैठा रहूँ।"

बहन कहती—"निठल्ला बैठने को मैं नहीं कहती, पर सेहत गँवाकर धन इकट्ठा करने की सलाह भी मैं नहीं दे सकती।"

ऐसे अवसर पर सदैव बाकर के सामने उसकी मृत पत्नी का चित्र खिच जाता, उसकी अन्तिम अभिलाषा उसके कानों में गूँज जाती। वह आँगन में खेलती हुई रजिया पर एक स्नेह-भरी दृष्टि डालता और विषाद से मुस्कराकर फिर अपने काम में लग जाता और आज डेढ़ वर्ष की कड़ी मशक्कत के बाद, वह अपनी संचित अभिलाषा को पूरा कर सका था।

उसके हाथ में साँडनी की रस्सी थी और नहर के किनारे-किनारे वह चला जा रहा था।

शाम का वक्त था, पश्चिम की ओर डूबते सूरज की किरणें धरती को सोने का अन्तिम दान कर रही थीं। वायु में ठण्डक आ गई थी और कहीं दूर खेतों में टिटहरी 'टिहूँ-टिहूँ, कर रही थी। बाकर के मन में अतीत की सब बातें एक-एक करके आ रही थीं। इधर-उधर कभी कोई किसान अपने ऊँट पर सवार जैसे फुदकता हुआ निकल जाता था और कभी-कभी खेतों से वापस आने वाले किसानों के लड़के घर में रखे हुए घास पट्ठे के गट्ठों पर बैठे बैलों को पुचकारते, किसी गीत का एक-आध बन्द गाते, या छकड़े के पीछे बँधे हुए चुपचाप चले जाने वाले ऊँटों की कूथनियों से खेलते चले आते थे।

बाकर ने स्वप्न से जागते हुए पश्चिम की ओर अस्त होते हुए सूरज की ओर देखा, फिर सामने की ओर शून्य में नजर दौड़ाई—उसका गाँव अभी बड़ी दूर था। पीछे की ओर हर्ष से देखकर और मौन रूप से चली आने वाली साँडनी को प्यार से पुचकारकर वह और भी तेजी से चलने लगा—कहीं उसके पहुँचने से पहले रजिया सो न जाय?

मशीरमाल की काट नजर आने लगी। यहाँ से उसका गाँव समीप ही था। यही कोई दो कोस। बाकर की चाल धीमी हो गई और इसके साथ ही कल्पना की देवी, अपनी रंग-विरंगी तूलिका से उसके मस्तिष्क के चित्रपट पर तरह-तरह की तस्वीरें बनाने लगी। बाकर ने देखा—उसके घर पहुँचते ही नन्हीं रजिया, आह्लाद से नाचकर उसकी टाँगों से लिपट गई है और फिर डाची को देखकर उसकी बड़ी-बड़ी आँखें आश्चर्य और उल्लास से भर गई हैं। फिर उसने देखा—वह रजिया को आगे बिठाए, सरकारी खाले (छोटी नहर) के किनारे-किनारे डाची पर भागा जा रहा है। शाम का वक्त है, ठंडी-ठंडी हवा चल रही है और कभी कोई पहाड़ी कौआ अपने बड़े-बड़े परों को फैलाये और अपनी मीठी आवाज से दो एक बार काँव-काँव करके ऊपर उड़कर चला जाता है। रजिया की खुशी का वारापार नहीं है। वह जैसे हवाई जहाज में उड़ी जा रही है। फिर उसके सामने आया कि वह रजिया को लिए बहावल नगर की मंडी में खड़ा है। नन्हीं रजिया मानो भौचक्की-सी है, हैरान और आश्चर्यान्वित-सी। कई ओर अनाज के इन बड़े-बड़े ढेरों, अनगिन छकड़ों और हैरान कर देने

वाली चीजों को देख रही है। बाकर साह्लाद उसे सबकी कैफियत दे रहा है। एक दूकान पर ग्रामोफोन बजने लगता है। बाकर रजिया को वहाँ ले जाता है। लकड़ी के इस डब्बे से किस तरह, गाना निकल रहा है, कौन इसमें छिपा गा रहा है—ये सब बातें रजिया की समझ में नहीं आतीं और यह सब जानने के लिये उसके मन में जो कौतूहल है, वह उसकी आँखों से टपका पड़ता है।

वह अपनी कल्पना में मस्त काट के पास से गुजरा जा रहा था कि अचानक कुछ ख्याल आ जाने से वह रुका और काट में दाखिल हुआ।

मशीरमाल की काट भी कोई बड़ा गाँव न था। इधर के सब गाँव ऐसे ही हैं। ज्यादा हुए तो तीस छप्पर हो गये। कड़ियों की छत का या पक्की ईंटों का मकान इस इलाके में अब भी नहीं। खुद बाकर की बीस पच्चीस सुंगिया की बस्ती थी, केवल मशीरमाल का निवास-स्थान कच्ची ईंटों से बना था, पर छत उसकी भी छप्पर की ही थी। नानक बढ़ई को सुंगी के सामने वह रुका। मंडी जाने से पहले वह यहाँ डाची का गदरा (काठी) बनने के लिए दे गया था। उसे ख्याल आया कि यदि रजिया ने साँडनी पर चढ़ने को जिद की तो वह उसे कैसे टाल सकेगा? इसी विचार से वह पीछे मुड़ आया था। उसने नानक को दो-एक आवाजें दीं, अन्दर से शायद उसकी पत्नी ने उत्तर दिया—"घर में नहीं हैं, मंडी गये हैं।"

बाकर का दिल बैठ गया। वह क्या करे, वह न सोच सका कि नानक यदि मंडी गया है, तो गदरा क्या खाक बनाकर गया होगा? लेकिन फिर उसने सोचा—शायद बनाकर रख गया हो इससे उसे कुछ सान्त्वना मिली। उसने फिर पूछा—"मैं साँडनी का पालन (गदरा) बनाने के लिए दे गया था। वह बना या नहीं?"

जवाब मिला—"हमें नहीं मालूम।"

बाकर का आधा उल्लास जाता रहा। बिना गदरे के वह डाची को क्या लेकर जाय? नानक होता तो उसका गदरा चाहे न बना सही, कोई दूसरा ही उससे माँगकर ले जाता। इस ख्याल के आते ही उसने सोचा—चलो मशीरमाल से माँग लें। उनके तो इतने ऊँट रहते हैं, कोई-न-कोई पुराना पालन होगा ही। अभी उसी से काम चला लेंगे, तब तक नानक गदरा

तैयार कर देगा। यह सोचकर वह मशीरमाल के घर की ओर चल पड़ा।

अपनी मुलाजमत के दिनों में मशीरमाल महोदय ने काफी धन उपार्जित किया था। जब इधर नहर निकली तो उन्होंने असर और रसूक से रियासत की जमीन ही में कौड़ियों के मोल कई मुरब्बे जमीन ले ली थी। अब रिटायर होकर यहीं आ रहे थे। राहक (मुजोर) रखे हुए थे, आय खूब थी और मजे से बसर हो रही थी। अपनी चौपाल में एक तख्तपोश पर बैठे वे हुक्का पी रहे थे। सिर पर सफेद साफा, गले में सफेद कमीज, उस पर सफेद जाकेट और कमर में दूध जैसे रंग का तहमद। गर्द से अटे हुए बाकर को सांडनी की रस्सी पकड़े आता देखकर उन्होंने पूछा—"कहो बाकर किधर से आ रहे हो ?"

बाकर ने झुककर सलाम करते हुए कहा—"मण्डी से आ रहा हूँ मालिक !"

"यह डाची किसकी है ?"

"मेरी है मालिक, अभी मंडी से ला रहा हूँ।"

"कितने की लाये हो ?"

बाकर ने चाहा, कह दे आठ बीसी को लाया हूँ। उसके ख्याल में ऐसी सुन्दर डाची दो सौ को भी सस्ती थी, पर मन न माना, बोला—'हुजूर, माँगता तो एक सौ साठ था, पर सात बीसी ही में ले आया हूँ।"

मशीरमाल ने एक नजर डाची पर डाली। वे खुद देर से एक सुन्दर सी डाची अपनी सवारी के लिये लेना चाहते थे। उनकी डाची थी तो, पर पिछले वर्ष उसे सीमन हो गया था और यद्यपि नील इत्यादि देने से उसका रोग दूर हो गया था, पर उसकी चाल में वह मस्ती, वह लचक न रही थी। वह उनकी नजरों में बस गई—क्या सुन्दर और सुडौल अंग हैं ? क्या सफेदी मायल भूरा-भूरा रङ्ग है ! क्या लचलचाती लम्बी गरदन है ? बोले—"चलो हमसे आठ बीसी ले लो, हमें डाची की जरूरत है। दस तुम्हारी मेहनत के रहे।"

बाकर ने फीकी हँसी के साथ कहा—"हुजूर, अभी तो मेरा चाव भी पूरा नहीं हुआ।"

मशीरमाल उठ कर डाची की गरदन पर हाथ फेरने लगे—वाह क्या असील जानवर है ? बोले—"चलो पाँच और ले लेना।"

और उन्होंने आवाज दी—"नूरे ! अरे ओ नूरे !"

नौकर नौहरे में बैठा भैंसों के लिए पट्टे कतर रहा था। गँड़ासा लिये ही भागा चला आया।

मशीरमाल ने कहा—"यह डाची लेकर बाँध दो, एक सौ पैंसठ रुपये में, कहो कैसी ?"

नूरे ने हत-बुद्धि से खड़े बाकर के हाथ से रस्सी ले ली और नख से शिख तक एक नजर डाची पर डालकर बोला—"खूब जानवर है ?" और कह कर नौहरे की ओर चल पड़ा।

तब मशीरमाल ने अण्टी से साठ रुपये का नोट निकालकर बाकर के हाथ में देते हुए मुस्कराकर कहा—'अभी एक गाहक देकर गया है, शायद तुम्हारी ही किस्मत के थे। अभी यह रखो, बाकी भी एक-दो महीने तक पहुँचा देंगे। हो सकता है तुम्हारी किस्मत से पहले ही आ जायँ।" और बिना कोई जवाब सुने वे नौहरे की ओर चल पड़े।

नूरा फिर चारा कतरने लगा था। दूर ही से उसे आवाज देकर उन्होंने कहा—"भैंस का चारा रहने दो, पहले डाची के लिये गवारे को नीरा कर डालो, भूखी मालूम होती है।" और पास जाकर साँडनी की गरदन सहलाने लगे।

कृष्ण पक्ष का चाँद अभी उदय नहीं हुआ था। विजन में चारों ओर कोहासा-सा छा रहा था। सिर पर दो एक तारे निकल आये थे और दूर बबूल और ओंकाट के वृक्ष बड़े-बड़े काले सियाह धब्बे बन रहे थे। अपनी काट से जरा दूर फोग की एक झाड़ी के नीचे बाकर बैठा था, पशुओं के गले में बँधी घण्टियों की आवाज जैसे अनवरत क्रन्दन बनकर उसके कानों में जा रही थी। बाकर के हाथ में साठ रुपये के नोट बेपरवाही से लटक रहे थे और अपनी झोपड़ी से आने वाली प्रकाश की क्षीण रेखा को निर्निमेष देखता हुआ वह इस बात की प्रतीक्षा कर रहा था कि वह रेखा बुझ जाय, रजिया सो जाय तो वह चुपचाप अपने घर में दाखिल हो।

विनायक को "चूहा" इस उपनाम से पुकारा जाता था।

श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

मास्टर साहब

इस अधेड़पन की आयु में, अपने बचपन की जिन अनेक प्रातःकाल असम्बद्ध रूप में देखे हुए किसी सुख स्वप्न के समान मधुर स्मृतियों को मैं कभी-कभी दिल की कसक मिटाने के लिए एकान्त में घण्टों तक बैठकर निरन्तर देखा करता हूँ, उनमें मेरे मास्टर साहब का एक विशेष स्थान है। आज मैं एक प्रतिष्ठित कालेज का प्रिंसिपल हूँ। मेरी गञ्जी खोपड़ी की यहाँ बहुत बड़ी धाक है। मेरी विद्वत्ता, मौलिकता का मेरे कालेज के विद्यार्थी और अध्यापक गर्व करते हैं, परन्तु उन्हें क्या मालूम कि उनके प्रिंसिपल साहब इन दिनों भी कभी-कभी सपना देखते हुए, अपने बचपन के दो-एक साथियों का स्मरण करके उनके भय से सिहर उठा करते हैं। इन सपनों में भी मास्टर साहब ही ऐन मौके पर पहुँच कर अपने लाड़ले विनायक की रक्षा करते हैं। मास्टर साहब की वृद्ध छाया मूर्ति को देखकर जब मेरा भय दूर होने लगता है, उसी समय मेरी नींद उचट कर, उस भयंकर होते हुए भी मधुर स्वप्न को बीच में ही समाप्त कर देती है।

स्कूल की छोटी जमातों में किसी लड़के का कोई खास नाम पड़ जाना सबसे बड़ी आफत है। उस उपनाम की मोहारनियाँ रट-रटकर लड़के उसकी नाक में दम कर देते हैं। बदकिस्मती से माँ-बाप ने मुझे जिस स्कूल में भरती किया उसमें बहुत शीघ्र मेरे नाम के साथ 'चूहा' विशेषण जुड़ गया। मुझे ठीक याद नहीं कि यह नाम किस दिमाग की उपज थी—शायद सबसे पहले मेरे गणित के मास्टर ने ही मेरी चंचलता देखकर, मुझे 'चूहा' नाम

से बुलाया था। परन्तु इतना मुझे अच्छी तरह से स्मरण है कि मेरे छोटे कद, तेज चाल और चमकीली आँखों के कारण, बहुत शीघ्र स्कूल भर में मेरा नाम 'विनायक चूहा' प्रसिद्ध हो गया। यहाँ तक कि मेरे उस्ताद भी मुझे इसी नाम से पुकारने लगे। थोड़े दिनों में लोगों ने 'विनायक' को भी बायकाट कर दिया और सिर्फ 'चूहा' कहकर ही मेरा नाम स्मरण किया जाने लगा। उन दिनों मेरे लिए हँसना भी दूभर हो गया था—जरा किसी से कुछ कहा नहीं कि झट वह 'चूहा' कह कर मुझे चिढ़ा देता था। इतना ही नहीं, कई शरारती लड़के मुझे मारकर भाग जाते थे। जब मैं किसी उस्ताद से उनकी शिकायत करता तो वे झट से आकर कह देते—"नहीं जी; पहले चूहे ने ही मुझे काट खाया था।" मैं इस छेड़ से रोने लगता था, उस्ताद समझ लेते थे कि शायद सचमुच पहले मैंने ही शरारत शुरू की होगी। इन दिनों कभी-कभी मास्टर साहब ही मुझे प्यार से पुचकार का आश्वासन दिया करते थे। जब उनके अन्तर में कोई लड़का मुझसे छेड़छाड़ करता था तब उसकी आफत आ जाती थी।

मास्टर साहब भूगोल के अध्यापक थे। वे केवल उर्दू का मिडिल ही पास थे; परन्तु उन दिनों हम उन्हें संसार के सबसे विद्वानों में से एक समझा करते थे। जिस विद्वत्ता से वे हमें बिजनौर जिले का भूगोल पढ़ाया करते थे उसकी सारी जमात कायल थी।

भूगोल में मैं अपनी जमात में पहला रहता था। इस कारण मास्टर साहब ने अपने अन्तर के लिए मुझे क्लास का मानीटर बना रक्खा था। मैं पढ़ाई में अच्छा होते हुए भी अपनी जमात का मानीटर नहीं था। जमात का असली मानीटर मुझसे बहुत चिढ़ता था। वह शीया था शीया मुसलमानों की चूहों से दुश्मनी स्वाभाविक है। वह सदैव मुझे पिटवाने का प्रयत्न करता था, इसलिए प्रतिदिन मैं भी भूगोल के अन्तर की प्रतीक्षा किया करता था। इस अन्तर में एक पद का भारी अधिकार पाकर मैं अपनी जमात के असली मानीटर से बदला निकालने का पूरा प्रयत्न करता था। बोर्ड पर टँगे हुए नक्शे के पास खड़े होकर, एक लम्बा प्वाइंटर हाथ में लिए हुए, बड़ी संजीदगी के साथ अदम-अम्मन करके सारी जमात को तंग कर देता

था; खास कर मानीटर से मैं अपना पूरा दिमाग लड़ाकर कठिन-से-कठिन सवाल किया करता था, परिणामतः उसे प्रायः प्रतिदिन मास्टर साहब से डाँट सुननी पड़ती। परन्तु शोक यही था कि भूगोल की बारी सप्ताह में केवल तीन दिन ही आती थी।

मास्टर साहब गरीब थे। केवल २५) रु० मासिक लेकर ही वे अपने बड़े भारी परिवार का पालन करते थे। यह होते हुए भी उनका दिल बहुत उदार था। एक दिन स्कूल की सीढ़ियों से गिर कर मेरी टाँग से खून निकलने लगा था, तब मास्टर साहब ने अपनी नई धोती का एक भाग फाड़कर मुझे पट्टी बाँध दी थी। वे मेरे सच्चे हितचिन्तक थे। मुझे सदैव पढ़ने-लिखने की ओर विशेष ध्यान रखने के लिए कहा करते थे।

मास्टर साहब में एक अवगुण भी था। वह यह कि वे बहुत आलसी थे। सदा क्लास में देर आते थे और घंटा बज चुकने पर भी देर तक पढ़ाते रहते थे। परन्तु उनका यह अवगुण भी मेरे लिये बहुत लाभदायक था। भूगोल के अन्तर में जब तक मास्टर साहब न आते थे, मैं ही मानीटर के अधिकार से क्लास का निरीक्षण किया करता था। परन्तु मेरा यह भूगोल के अन्तर का आनन्द भी बहुत दिनों तक स्थिर न रह सका। लड़कों की सूझ बहुत दूर तक पहुँचती है। मैं प्रतिदिन एक लम्बा प्वाइंटर हाथ में लेकर लड़कों को परेशान करता था, अतः उन्होंने उस प्वाइंटर का नाम 'चूहे की पूँछ' रख छोड़ा। बस, अब ज्योंही मैं प्वाइंटर उठा कर बोर्ड के पास जाता था, लड़के आंख के इशारों से एक दूसरे की ओर देखकर शरारत भरी मुस्क्यान करने लगते थे। कभी-कभी इन गुप्त तानों से मैं इतना तंग आ जाता था कि रोने के सिवाय मेरे पास इस दुःख से बचने का कोई इलाज ही न रहता था। रोते देख कर मास्टर साहब साक्षात् क्रूरता के अवतार बन जाते थे। मेरे ही कारण वह कई बार सारे क्लास को उलटे कान पकड़वा चुके हैं।

(२)

बचपन की उन सरल विभूतियों को समाप्त हुए बहुत अरसा बीत जाने पर भी मास्टर साहब से मेरा सम्बन्ध नहीं टूटा। लगभग १०, १२ बरस उस स्कूल से बहुत दूर, इलाहाबाद रह कर भी मैं फिर उसी स्कूल में

लौट आया। अबकी बार, मैं प्रथम विभाग में एम० ए० की परीक्षा पास करके इस स्कूल का मुख्याध्यापक नियुक्त होकर आया हूँ। स्कूल में जमीन-आसमान का परिवर्तन आ गया है। उन दिनों वह डिस्ट्रिक बोर्ड का एक साधारण मिडिल स्कूल था, अब यह सरकारी हाईस्कूल बन चुका है। उसकी इमारतें भी पहले की अपेक्षा बहुत विस्तृत और सुन्दर बना दी गई हैं। सहन में एक सुन्दर फुलवाड़ी लग गई है। आज उस जमाने का एक भी विद्यार्थी या उस्ताद वहाँ नहीं है। सभी कुछ नया हो चुकने पर भी पुराने जमाने का एक अवशेष अभी तक उसी तरह वहाँ विद्यमान है। मेरे स्नेही मास्टर साहब आज भी ध्रुवतारे की तरह वहाँ विद्यमान हैं। जब मेरा जन्म भी नहीं हुआ था, तब से वे इसी स्कूल में शिक्षक का काम कर रहे हैं। वे तो स्थिर रहे हैं, परन्तु उनकी आयु उनकी तरह स्थिर नहीं रह सकी। अब वे बहुत ही वृद्ध हो गये हैं।

मैं मुख्याध्यापक बन कर स्कूल में आया हूँ। स्कूल में मेरा बहुत प्रभाव है। विद्यार्थी मेरा दबाव मानते हैं, अध्यापक मुझसे अदब के साथ पेश आते हैं। मैं बहुत शीघ्र कड़े नियन्त्रण का पक्षपाती हेडमास्टर प्रसिद्ध हो गया हूं। घण्टा बजते ही सब लड़के स्कूल में पहुँच जायें, सब काम ठीक समय पर हो। लड़कों का वेश यथासम्भव एक समान रहे, स्कूल में कभी शोर न करें—इन सब बातों पर मैं अधिक ध्यान देता हूं। रोब के कारण ही अब प्राय: सभी उस्ताद खड़े रह कर अपनी जमातों को पढ़ाते हैं।

मेरे मास्टर साहब भी मुझसे डरते हुए पेश आते हैं। यह मुझे पसन्द नहीं। आवश्यकता होने पर जब कभी वे चपरासी से पूछ कर डरते-डरते मेरे दफ्तर में आते हैं, तब मैं खड़ा होकर उनका स्वागत करता हूं। मैं सदैव उनकी सम्मान-पूर्वक पहले वन्दगी करने की कोशिश करता हूं। हमेशा उनसे हँस कर बात करता हूँ।

मेरी नियुक्ति से मास्टर साहब प्रसन्न भी हैं और खिन्न भी। वे खिन्न इसलिए हैं कि अपनी इस लम्बी जिन्दगी में उन्हें जिन २५-३० हेडमास्टरों से पाला पड़ा है, वे सब कभी-न-कभी उनकी आलसी तबीयत के कारण फटकार अवश्य बता चुके हैं। इस बुढ़ापे में मास्टर साहब का आलस्य और

अधिक बढ़ गया है, परन्तु अपने इस नये "चेले हेडमास्टर" के डर से उन्हें अपनी वह तबीयत छोड़ने के लिए जी जान से प्रयत्न करना पड़ रहा है। इस जिन्दगी तक मास्टर साहब कभी-कभी हेडमास्टर की फटकार सुनने को मौसमी बुखार में कुनीन पीने की तरह से लाजमी समझते रहे हैं—इसे उन्होंने कभी बुरा नहीं माना। मास्टर साहब के इतना प्रयत्न करने पर भी उनकी तबीयत में कोई खास परिवर्तन नहीं आ सका। आदत पुरानी थी न। वे प्रायः अब भी क्लास में देर से पहुँचते हैं। उनके अन्तरों में लड़के शोर मचाते रहते हैं। मुझे यह सब बुरा प्रतीत होता है, तथापि मैं कभी मास्टर साहब से इस बात की शिकायत नहीं करता। वे जब किसी जमात को पढ़ाते होते हैं, तब मैं उस जमात में जाता ही नहीं—क्योंकि इससे मेरे लिए मास्टर साहब को खड़ा होना पड़ता।

(२)

गरमी का मौसम अपने पूरे यौवन पर था। नौकर बाहर बैठकर पंखा खींच रहा था, फिर भी मुझे असह्य गरमी सता रही थी। उन दिनों बिजली के पंखों का आम रिवाज नहीं था, तब प्रायः दफ्तरों में पंखे रस्सी से खींचकर चलाये जाते थे। गरमी इतनी थी कि किसी काम की इच्छा न होती थी। मेरे दफ्तर के सामने स्कूल के सहन में एक पेड़ की साया में किसी क्लास की पढ़ाई हो रही थी। वहाँ लड़के शोर मचा रहे थे। इस शोर ने मुझे और भी अधिक खिन्न कर दिया। धीरे-धीरे लड़कों का यह शोर मेरे लिए असह्य हो उठा। मैं क्रोध में भर कर दफ्तर से बाहर निकल आया।

बाहर आकर मैंने देखा कि मास्टर साहब एक कुर्सी पर बैठे-बैठे ऊँघ रहे हैं। उनके सामने घास पर बैठे हुए चौथी जमात के छोटे-छोटे बच्चे शोर मचा रहे हैं। कुछ लड़के हाथापाई भी कर रहे हैं। मेरे स्कूल के सहन में और वह भी मेरे दफ्तर के ठीक सामने इतना अक्षम्य अपराध! जैसे यह स्कूल बिलकुल लावारिस हो। मैं क्रोध से भरा हुआ शीघ्रता से मास्टर साहब के पास पहुँचा। लड़के घबरा कर उठ खड़े हुए। परन्तु मास्टर साहब अभी तक सो रहे थे। दो-एक क्षण तक उनकी ओर देखते रह कर क्रोध भरे स्वर में मैंने कहा—"मास्टर साहब ?"

बूढ़े मास्टर पर मानों किसी ने तमंचे का फायर कर दिया। वे हड़बड़ा कर एकदम से कुर्सी पर उठ खड़े हुए। उनका चेहरा अत्यधिक लज्जावनत हो गया। वे आँखें नीची करके जमीन की ओर ताकने लगे।

इसके बाद मैं उनसे कुछ नहीं कह सका। मेरा क्रोध उतर गया। मुझे स्वयं प्रतीत होने लगा कि मैंने यह काम अच्छा नहीं किया।

(४)

स्कूल का समय समाप्त हो गया। मैं अपनी साइकिल पर सवार होकर अपने घर पहुँचा। आज मेरा दिल बहुत उदास था। कभी मुझे अपने मास्टर साहब से भी इस तरह पेश आना पड़ेगा—यह मैंने कभी कल्पना भी न की थी। मैंने वहीं देख लिया था कि मेरी फटकार से मास्टर साहब को असह्य क्लेष पहुँचा है। रह-रह कर मुझे उनका उस समय का झुका हुआ, लज्जित चेहरा याद आने लगा। इस मानसिक खेद में आज मैं भोजन नहीं कर सका।

दोपहर के दो बजे थे। स्कूल का समय ११ बजे ही समाप्त हो जाता था। इस समय सनसनाती हुई लू चल रही थी। सूर्य आग बरसा रहा था। इसी समय मैं नंगे पैर नंगे सिर, पैदल ही मास्टर साहब के घर की तरफ चल दिया।

जमीन गरम तवे के समान तपी हुई थी। मुझे ऐसा अनुभव हो रहा था कि मानों मैं आग पर चल रहा हूँ। गरम लू से शरीर छिदता जा रहा था। ऐसी भयंकर गरमी मैंने इस जन्म में और कभी अनुभव न की होगी। मैं इन सब बातों की परवाह किये बिना, मास्टर साहब से मिलने की इच्छा से चलता जा रहा था।

मास्टर साहब का घर, शहर के बिलकुल बाहर, एक खेत के किनारे पर था। इस छोटे से घर में वे अपने परिवार के साथ रहते थे। इस मौसम में फसल कट चुकी थी, खेत साफ मैदान की तरह फैला हुआ था। मैंने देखा कि इसी खेत में शीशम के एक पेड़ की घनी छाया के नीचे मास्टर साहब कोई कपड़ा तक बिछाये बिना सोये हुए हैं। मैं उनके पास पहुँचा। मुख को छोड़कर उनका शेष सम्पूर्ण शरीर एक चादर से ढका हुआ था। कुछ देर तक मैं चुपचाप

खड़े रह कर उनकी तरफ देखता रहा। उस निर्जन खेत में, मानसिक व्यथा का मूर्तिमान प्रतिरूप बन कर सोया हुआ वह दरिद्र और बूढ़ा मास्टर मुझे इस लोक से बहुत ऊपर की चीज जान पड़ा।

इसके बाद उनके पैरों के पास बैठ कर मैं धीरे-धीरे पैर दबाने लगा। मास्टर साहब सहसा जाग उठे। मुझे देखते ही वे एकदम उठकर बैठ गये। उन्होंने मुझे छाती से लगा लिया। मैंने देखा कि मास्टर साहब की आँखों से आँसू बह रहे हैं।

मास्टर साहब को, इसके बाद अधिक दिनों तक मेरे नीचे काम न करना पड़ा। मेरी सिफारिशों के आधार पर उनकी वेतनवृद्धि करके उन्हें उसी जिले के एक प्रारम्भिक स्कूल का मुख्याध्यापक बना दिया गया।

+ + +

मास्टर साहब को अब यह संसार छोड़े बहुत दिन हो गए हैं; परन्तु उनकी याद मेरे हृदय में आज भी ताजी बनी हुई है।

———

हेमेन्द्र की औरत वीणा उसका एक लड़का एवं एक लड़की — अतुल एवं सुजाता उर्फ ताता

श्री विष्णु प्रभाकर

गृहस्थी

वीणा जब बाहर से लौटी तो सदा की तरह झुँझलाहट से भरी हुई थी। उसके पीछे दोनों बच्चे ऐसे दौड़ रहे थे मानों इञ्जन के साथ ट्रेन के डिब्बे घिसट रहे हों। वह शीघ्रता से ऊपर चढ़ गई। आगे बढ़ने से पूर्व उसने जीने के पास वाले कमरे में झाँककर देखा, हेमेन्द्र तख्त पर लेटा हुआ एक पुस्तक पढ़ने में व्यस्त था। उसे देखकर वह कुछ बड़बड़ाई और आगे बढ़ गई, लेकिन बच्चे नहीं बढ़े। वे भड़भड़ाते हुए कमरे के अन्दर दाखिल हो गये। अतुल ने सीधे तख्त के ऊपर, हेमेन्द्र के पास जाकर कहा, "पिताजी, डाक्टर ने कहा है, अम्मा की अँगुली कटेगी।"

हेमेन्द्र ने मुँह उठाकर अतुल को देखा और फिर धीरे से कहा, "नीचे उतरो।"

"अम्मा की अँगुली कटेगी।"

"मैं कहता हूँ नीचे उतरो। जाओ, जाओ भाई उतर जाओ।"

अब अतुल ने मुँह चढ़ा लिया। रुआसा-सा होकर बोला; "हम कहते हैं, अम्मा की अँगुली कटेगी।"

"ओफओ! भाई, रोते क्यों हो? कहाँ हैं अम्मा?"

सुजाता उर्फ ताता ने आगे बढ़कर कहा, "मामा जी, मामी के हाथ में फुंसी निकली है न? डाक्टर ने उसे काटने को कहा है।'

"ओहो ! यह बात थी। जाओ, जाओ मुझे पढ़ने दो। बाहर खेलो जाकर।

सुजाता बाहर जाने को मुड़ी, पर अतुल महाशय खिड़की पर चढ़ गये और बोले, "मैं यहाँ बैठकर पढ़ूँगा। ताता तू भी आ।"

वह अपना वाक्य पूरा कर भी न पाया था कि ताता कूद कर उसके पास जा बैठी और दोनों एक-एक किताब उठाकर परीक्षार्थी विद्यार्थियों की भाँति पढ़ने का प्रयत्न करने लगे। हेमेन्द्र ने एक बार उन्हें देखा, फिर मुस्कराकर अपनी पुस्तक की ओर मुड़ गया। कुछ क्षण बीते होंगे कि एक हाथ में दूध का गिलास लिये वीणा ने वहाँ प्रवेश किया। उसे पास की तिपाई पर रखकर वह बोली, "अतुल, ताता ! जाओ, मैं दूध रख आई हूँ। जाकर, पियो।"

दूध का नाम सुनकर दोनों बाहर दौड़ गये। तब वीणा ने बेरुखी से कहा, "घर में आटा नहीं है।"

"ऐं !"

"घर में आटा नहीं है।"

स्वर में आवश्यकता से अधिक तलखी थी। यद्यपि वह तलखी उसके लिये नई नहीं थी तो भी उसे उठना पड़ा। उसने धीरे से गिलास उठाया फिर पूछा, "तुमने पिया।"

वीणा और भी भुनभुना उठी, "मैं कहती हूँ घर में आटा नहीं है।"

"नहीं है तो अन्नपूर्णा जाने।"

वीणा ने तीव्रता से कहा, "अन्नपूर्णा गई भट्ठी में। मुझे आटा चाहिये।"

हेमेन्द्र पर तनिक भी असर नहीं हुआ। बोला, "वीणा का स्वर इतना कर्कश नहीं होना चाहिए।"

वीणा अब उबल पड़ी। जो कुछ भीतर भरा हुआ था वह वर्षा के नाले के वेग के समान बाहर निकलने लगा—"मैं कहती हूँ, अपनी काहिली और निकम्मेपन को बातों के पीछे क्यों छिपाते हो ? कुछ करते क्यों नहीं ? ऐसे ही जीवन बिताना था, तो शादी क्यों की थी ? दुनिया में रहने की हविस करते हो ? कहीं जंगल में जा बसे होते। कान खोलकर सुन लो, मैं अब इस तरह तुम्हारा घर नहीं चला सकती।"

हेमेन्द्र ने मानों कुछ हुआ ही नहीं, ऐसा कहा—"मेरा घर ? किसने कहा कि घर मेरा है ? घर तो घरवाली का होता है।"

"मैं अब इन बातों में आनेवाली नहीं हूँ। अगर रोटी खानी है तो उठ कर बाजार जाओ और गेहूँ लेकर आओ।"

"आ जाएँगे।" हेमेन्द्र ने उसी शान्ति से कहा और दूध पीकर पूर्ववत् लेट गया।

पर वीणा शान्त होने वाली नहीं थी। हेमेन्द्र को लेटते देखकर और भी क्रुद्ध हो उठी। बोली, "इस तरह काम नहीं चलेगा। मुझे आज फैसला करना है।"

"किस बात का ?"

"कि आपको काम करना है या नहीं ? आप कभी कुछ सोचते भी हैं ?"

शीघ्रता से बीच में टोककर हेमेन्द्र ने कहा, "यही तो मुसीबत है। इतना अधिक सोचता हूँ कि फुरसत नहीं मिलती।"

"खाक सोचते हो। कुछ सोचते होते तो ये दिन क्यों देखने पड़ते ? तुम तो एकदम निकम्मे हो गये। तुमसे इतना भी नहीं हो सकता कि घर को दियासलाई ही दिखा दो। फुँक जायगा, तो न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी।"

"ठीक कहती हो वीणा, काश कि मैं दियासलाई जला पाता ! जला सकता तो प्रकाश न हो जाता ? अब तो मैं निरे अन्धकार में टटोल रहा हूँ।"

वीणा तिलमिला उठी। उससे वहाँ खड़ा नहीं रहा गया। बड़बड़ाती हुई अन्दर चली गई और हाथ के गिलास को बड़ी तेजी से जूठे बर्तनों में फेंक दिया। जोर का शब्द करता हुआ वह दूर जा पड़ा। फिर उठाया और दुगुनी तेजी से यथास्थान रख दिया। उसके सामने ढेर सारा काम करने को पड़ा था। उसे बरतन माँजने थे, दाल बीननी थी, फिर कहीं से आटा लाकर रोटी बनानी थी; क्योंकि उनके कोई एक मित्र आने वाले थे। जी में आता है जिस किसी को खाने को कह देते हैं, पर यह नहीं सोचते कि खाना आयेगा कहाँ से ? कोई है, मुझे दर-दर भटकना पड़ता है और ये हैं कि आराम से लेटे-लेटे जमीन आसमान के कुलाबे मिलाते रहते हैं। दोस्तों के साथ ऐसे कहकहे लगाते हैं कि आसमान फटने लगता है।" उसी समय उसकी दृष्टि रसोई के अन्दर गई। अतुल और सुजाता दोनों अपने-अपने आसनों पर बैठे थे। अतुल के सामने दूध बिखरा पड़ा था और वह सुजाता के गिलास से दूध पी रहा था। वीणा चिल्ला उठी, "अतुल ?"

अतुल ने काँपकर गिलास मुँह से हटाया।

"तू सुजाता का दूध क्यों पी रहा है?"

अतुल जोर से बोला, "उसी ने दिया।"

सुजाता ने धीरे से कहा, "मुझसे पिया नहीं गया मामी।"

वीणा बरस पड़ी, पूछा—"किसका दूध बिखरा है?"

अतुल ने कहा, "हम तो आ रहे थे, गिलास में पैर लग गया!"

वीणा एक बार फिर काँपीं, पर दूसरे ही क्षण चिल्लाकर कहा, "पैर लग गया। क्यों लग गया? देखकर नहीं चला जाता? बड़ी नदी बह रही है न दूध की? कल को यह भी नहीं मिलेगा। इन लक्षणों से दूध क्या पानी की बूँद को तरसोगे। जन्म ही ऐसे घर में लिया है। पिछले जन्म में जरूर पाप किये होंगे।

वीणा कहाँ-से-कहाँ पहुँच गई। आँसू भर आये, वाणी रुँध गई। उठी, पतीली में जो दूध था उसे चुपचाप दोनों के गिलास में उड़ेल दिया। दोनों बच्चे सप्रश्न देखते ही रह गये। वीणा ने कहा, "देख क्या रहे हो? जल्दी से पीकर गिलास मुझे दो।"

दोनो बच्चे यंत्रवत् दूध पीने लगे। वीणा ने कहा, "सुजाता। दूध पीकर शीला भाभी के पास जाना।"

सुजाता ने एक साँस में दूध पीकर कहा, "जाऊँ?"

"हाँ"

"क्या कहूँ?"

"कहना, दो सेर आटा चाहिए।"

"अच्छा।"—कहकर सुजाता धनुष से निकले तीर की तरह भागी। अतुल ने पीछा करना चाहा पर माँ की आँखें देखकर झिझक गया। कुछ देर वहीं खड़ा रहा, फिर बैठक में पहुँचा। हेमेन्द्र के पास कोई मित्र आ बैठा था, गहरी बातें हो रही थीं। वह कुछ क्षण इधर-उधर मँडराया। फिर कोई किताब गिरा दी, तो हेमेन्द्र ने कहा, "बाहर जाकर खेलो भाई।"

फिर अन्दर लौटा। वीणा बरतन माँज रही थी। कई क्षण देखता रहा, फिर बोला, "अम्मा!"

"हाँ।"

"तुम उठ जाओ।"

"क्यों ? बरतन कौन माँजेगा ?"

"हम माँजेंगे। तुम्हारे हाथ में चोट लग रही है।"

वीणा ने ऊपर से नीचे तक सिहरकर अतुल को देखा. मुस्कराई, बोली— "जा जा बाहर खेल। बरतन माँजेगा। बाप ने निहाल कर रक्खा है जो बेटा करेगा।"

अतुल कुछ खिसिया गया, पर वह कुछ कहे कि बाहर से आवाज आई, "अरे माई, पानी भेजना !"

वीणा ने यन्त्रवत् गिलास धोया और अतुल को देकर स्नेह से कहा, "जा बेटा अपने पिता जी को पानी दे आ।"

अतुल शीघ्रता से पानी लेकर चला था कि ताता ने आकर कहा, "मामी, उन्होंने आटा नहीं दिया।"

"क्या कहा ?"

"कह रही थीं, तीसरे दिन आटा माँगने आ जाती हैं। कहाँ से दें ?"

यह सुनना था कि वीणा तड़प उठी, "क्या कहा, तीसरे दिन आ जाती हैं ! कौन मरा जाता है तीसरे दिन ? और कभी लाती हूँ तो क्या कभी का रखा है ? तूने कहा नहीं ?"

सुजाता मामी का रुद्र रूप देखकर पहले ही घबरा गई थी, अब और भी सिटपिटाई। बोली— नहीं। वीणा तेज हो उठी, हाय, जैसे घर में थे वैसे सोचे में आ गये। बिलकुल अपने निकम्मे मामा पर गई है। अरे, तुझसे मुँह फाड़कर नहीं कहा गया कि मामी, बता तो, कौन-सा आटा रख लिया है तेरा ? ले जाती हूँ तो दूसरे दिन दे भी तो जाती हूँ।

सुजाता अब भी भयभीत, दीवार से चिपकी खड़ी रही, पर वीणा का क्रोध शान्त नहीं हो रहा था। उसने बरतनों को छोड़ जल्दी-जल्दी हाथ धोते हुए चिल्लाकर कहा, "अब खड़ी क्या है ? बरतनों को धो ले।"

और कहकर तड़पती-तड़पती पहुँची शीला भाभी के घर। भरी हुई तो थी ही, चिल्लाने लगी—"मैं कहती हूँ, तुझे ताना मारते शर्म नहीं आई ? आटा नहीं था तो मना कर देती, पर बड़े बोल क्यों बोलती है ? बता तो, किस दिन आटा तेरा नहीं लौटा और कौन सी चीज रह गई, बता !"

शीला को यही आशा थी, वह पूरी तरह तैयार थी। बोली, "देख वीणा, यहाँ तड़कने-भड़कने की जरूरत नहीं है। आटे को मैंने मना नहीं किया है। मैं तो कह रही थी, हेमेन्द्र का यह निकम्मापन अच्छा नहीं। सब के घर मिट्टी के चूल्हे हैं। आजकल किसके घर सोना बरसता है? सब मेहनत करते हैं। उसे चाहिये हाथ-पैर हिलाए।

वीणा ने तड़पकर बीच ही में टोकते हुए कहा' "बस-बस शीला भाभी! रहने दे। उन तक न जा। उन्हें तू खिला रही है क्या? तेरा इतना साहस कि तू उन्हें निकम्मा कहे। तेरे तो उनके पैर धोने लायक भी नहीं हैं। दुनिया पूजती है उन्हें। दूसरे दर-दर मारे फिरते हैं तो कोई नहीं पूछता और यहाँ घर बैठे पूजने आते हैं। कोई दिन जाता होगा जो पाँच-सात का खाना न बनाती हूँ। बनाती हूँ तो मैं, मुसीबत है तो मेरी, तुझे क्या दर्द उठा जो लगी उनका अपमान करने? दो पैसे हो गये हैं तो लाडो का दिमाग फिर गया है। ब्लैक मार्केट की कमाई के यही फल होते हैं, अभिमान फूलता है। यहाँ तो तन खपाना पड़ता है, तब दो टुकड़े नसीब होते हैं। पर कोई बता दे, किसी का रक्खा है। किसी से भीख माँगी है?"

नारी-अभिमान पर चोट लगती है तो तेज जाग उठता है। परन्तु वह तेज एक सीमा पर पहुँच कर पिघलने लगता है। वीणा का क्रोध पानी बन चला, आहत अभिमान आँखों की राह वह निकला। बोली, तुझे मैं अपना समझती थी, तब तेरे पास आ जाती थी। नहीं तो और घर बहुत हैं। घर-गिरस्ती में लेना-देना चलता है।"

और इतना कहकर वह भरे गले से लौट चली। शीला बहुत-कुछ कहने को तैयार बैठी थी, पर आँसू देखकर उसकी सिट्टी गुम हो गई। वह खिसिया गई और निकाला हुआ आटा वहीं पड़ा रह गया।

लेकिन कुछ देर बाद कहीं और से आटा लेकर वीणा जब घर पहुँची तो देखती क्या है कि शीला का लड़का आटा लिये नीचे खड़ा है।

वीणा ने अभिमान भरे स्वर में कहा, "मुझे आटा नहीं चाहिए। कह देना मुझे उसका कुछ भी नहीं चाहिए।"

और झपटकर वह ऊपर चढ़ गई। कमरे के पास आकर सुना कि अन्दर

कई व्यक्ति जोर-जोर से बोलकर अपनी महत्ता को प्रकट कर रहे हैं; पर उसके पति का स्वर सदा की तरह शान्त और धीमा है। उसे लगा उस शान्ति में गहनता है, धुआंधार वर्षा का पानी धरती को धो जाता है, पर उसकी प्यास नहीं बुझा पाता। वह काम तो भरे हुए बादलों की धीमी-धीमी बूंदें ही कर सकती हैं।

एक बन्धु बड़ी तीव्रता से बोल रहे थे, "चारों ओर भ्रष्टाचार फैला हुआ है। आचरण समाप्त हो चुका है। कुछ साम्राज्यवादी स्वार्थी लोग अपना उल्लू सीधा करने के लिए दुनिया को गुमराह कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में आपके पास क्या है जो बढ़ते हुए अत्याचार का विरोध कर सकें?"

हेमेन्द्र ने शान्त स्वर में जवाब दिया—"मेरी दृष्टि में तो आवश्यकता अकिञ्चन बनने की है।"

मित्र ठगे से रह गये। कई क्षण सन्नाटा रहा, फिर एक ने कहा—"क्या?"

दूसरे जोर से हँसे, "वाहियात, ढोंग।"

तीसरे बोले—"आपका मतलब क्या है?"

हेमेन्द्र ने उसी शान्ति से जवाब दिया, "मतलब साफ है। आवश्यकता इस बात की नहीं है कि हम यह पता लगायें, किसमें कितने दोष हैं, बल्कि इस बात की है कि हम अपने दोषों को स्वीकार करें।"

एक कहकहा लगा एक मित्र ने कहा—"वही खोखला आदर्शवाद।"

दूसरे तलखी से बोले—"आप तो बस सदा साधु बनने की बात कहते हैं। उसके लिये तपोवन की जरूरत है, दुनिया की नहीं।"

हेमेन्द्र ने कहा, "तपोवन दुनिया से बाहर नहीं है, देखें तो तपोवनों ने अक्सर सफलतापूर्वक शासन किया है।"

मित्र भी अप्रतिभ न होने की प्रतिज्ञा करके आये थे और भी विद्रूप से बोले, "आप जिस त्याग की ओर संकेत कर रहे हैं वह क्रांति के बिना असंभव है।"

हेमेन्द्र ने जवाब दिया, "क्रान्ति की आवश्यकता हो सकती है, पर उसका शोर एकदम अनावश्यक है। मैं तो कहता हूँ मेरे भाई! सब कुछ बदल दो, पर जब तक अपने को अकिञ्चन समझकर काम करने की शक्ति नहीं पा सकोगे तब तक कुछ नहीं होगा। आज नहीं, कल झगड़ा होगा। अपना महत्व बढ़ा

तो दूसरों का घटेगा। दूसरों का महत्व घटा तो शान्ति, सद्भावना और सुख सब हवा हुए।"

किसी ने कुछ जवाब नहीं दिया। हेमेन्द्र ने क्षणभर रुककर फिर कहा, "सो भाई, मूल बात तो अकिञ्चन बनने की है। शेष जो जनतन्त्र, अधिनायक-तंत्र, समाजवाद, गांधीवाद या विषाक्त गैस, एटम बम, हाइड्रोजन बम की बात है, वह सब ऊपरी है। भोजन उन्हें जड़ से मिलता है। जड़ में अकिञ्चन है, तो ये सब मनुष्य के दास हैं। नहीं तो तुम जानते हो, आज ये सब मनुष्य की छाती पर चढ़ बैठे हैं और मनुष्य है कि अपने को उनका स्वामी समझकर उन्हें दूसरों को नष्ट करने का आदेश दे रहा है।"

मित्र जैसे अब बेसबरे हो चले थे। सहसा एक ने तीव्रता से कहा, "आप तो आत्महत्या करने की बात कहते हैं। क्या नष्ट हो जाने में ही कल्याण है ?"

उसी तरह धीमे स्वर में हेमेन्द्र ने कहा, "आपकी बात मान ली, पर मैं पूछता हूं, हम नष्ट हो गये तो दुनिया का क्या बिगड़ जायेगा ? और बिगड़ भी जाए, कोई इस रास्ते आकर देखे तो सही। लोग तो पहले ही काल्पनिक भय के मारे जान दिये डाल रहे हैं मेरे भाई ! भय ही मनुष्य का एकमात्र दुश्मन है और आज की यह सारी शक्ति इसी भय की नींव पर खड़ी हुई है।"

अन्दर फिर सन्नाटा गहरा हो उठा। लगा, इस बात का किसी के पास कोई जवाब नहीं है। वीणा का मन एक मधुर आह्लाद से भर उठा, पर उसे तो रोटी बनानी है। याद आते ही वह जैसे स्वर्ग से गिरी और आगे बढ़ गई। जल्दी से चूल्हे में आग चेतन की, कौन जाने इन्हीं में कोई खानेवाला हो और वह अभी कहला भेजें। कोई भरोसा थोड़ा ही है उनका। उसके हाथ काम कर रहे थे और मस्तिष्क सोच रहा था कि कुछ देर बाद अतुल ने आकर कहा, "अम्मा ! पिताजी कहते हैं, खाना पांच आदमियों के लिए बनाना।"

वीणा जैसे कुछ समझी नहीं, "क्या कहता है ?"

"पिता जी कहते हैं पाँच आदमी खाना खाएँगे।"

जैसे एकदम ज्वालामुखी फट गया हो। चिल्लाकर वीणा बोली, "कह दे जाकर, यहाँ होटल नहीं खुला है और न कोई सदाव्रत लगा है। क्या समझ लिया है मुझे ? कह दिया, पाँच आदमी खाना खाएँगे। जैसे घर में कामधेनु

बँधी हुई है ? वाह-जी-वाह ? कुछ करना-न-धरना दिन भर तख्त पर पड़े हुए हुक्म चलाये जाते हैं। करना पड़े तो पता लगे। भला कोई बात है ? पांच को क्या मैं अपना सिर खिलाऊँगी ? जरा बुलाकर तो ला।"

अतुल बच्चा था, पर जान पड़ता है ऐसी बातों का आदी था। बोला, "अम्मा ? वहाँ तो बहुत से आदमी बैठे हैं।"

"तू जायगा भी या यहीं खड़ा-खड़ा जवाब चलाएगा ? आखिर है तो उसी बाप का बेटा न ? जा; मैं कुछ नहीं कर सकती। कुछ नहीं करूँगी। जो होगा देखा जायगा। एक दिन की हो तो भुगती जाय, यह तो रोज-रोज की दाँता-किटकिट है। आज इसका फैसला होकर रहेगा, मैं अब इस घर में नहीं रह सकती। मैं इस घर में नहीं रहूँगी।"

वीणा बोलती जाती थी और जल्दी-जल्दी आटा मलती जाती थी। चूल्हे की लकड़ी बाहर निकल आई थी, उसे तेजी से अन्दर डाल दिया। दाल का मैल उफन रहा था उसे उतारा और साग के ऊपर का पानी बदला और एक बार फिर जोर से कहा, "मैं देखूँगी आज क्या होता है ? आज फैसला नहीं किया तो मुझे भी वीणा कौन कहे ? मुझे क्या कोई कमी है ? न जाने किस जन्म के पाप से ऐसे निकम्मे के पाले बँध गई हूँ ? पर मैं क्या अपाहिज के साथ काम कर सकती हूँ ? पढ़ा सकती हूँ।"

फिर उसी तेजी से अतुल से कहा, केवल कहना चाहा, कह न सकी, क्योंकि तभी सामने से मदन आ गया। बोला, "भाभी, नमस्ते।"

किसी तरह सँभलकर वीणा ने उत्तर दिया, "नमस्ते।"

"ओ हो ? भोजन बन रहा है। बैठक में बड़ी भीड़ है। आज भी दावत है क्या ? कोई खास प्रबन्ध तो दिखाई देता नहीं है ?"

मदन इस घर का पुराना परिचित है। अक्सर आता रहता है। हेमेन्द्र से अधिक वीणा से उसकी पटती है। पहिले तो वीणा उससे बचती थी, क्योंकि उसकी वाणी में संयम कम था, पर जब मदन ने भइया के विरोध में भाभी का पक्ष लिया तो वीणा उससे नाराज न रह सकी। बाद में वह कई बार उसके आगे रो-रो पड़ी, आज भी फफक उठी। भीड़ लगी है तो खाएँगे

हो, हुक्म आया है, पाँच आदमियों का खाना तैयार करो, अब बताओ मैं कहाँ जाऊँ? इन्होंने तो मेरा जीना कठिन कर दिया।"

"पाँच आदमी खाना खाएँगे?"

"हाँ।"

"पहले नहीं कहा था!"

"पहले तो एक का कहा था!"

"हाय राम!" मदन ने नेत्र विस्फारित करते हुए कहा, "यह अत्याचार है! न बाबा! कोई बात है? किसी भली औरत को इस प्रकार सताना! भाभी? सच कहता हूँ, तुम हो, नहीं तो इस घर में कोई टिक सकता है? घर में दाना नहीं, लाने की हिम्मत नहीं; दिल इतना बड़ा कि दावत देंगे शहर भर को?"

"क्या बताऊँ, तू ही देख ले।

"भाभी? इसका तो कुछ-न-कुछ प्रबन्ध करना ही होगा। मैं बताता हूँ, आज तुम खाना मत बनाओ। देखते हैं, क्या होता है। आखिर एक दिन इसका फैसला तो होना ही है।"

"होना तो है।"

"तो बस, आज होने दो। सबसे अच्छा तो यह है कि तुम गायब हो जाओ।"

न जाने क्यों वीणा ने यह सुनकर एकदम मदन को देखा। तब बलिष्ठ शरीर और लाल सेब से मुखवाला वह मदन मुस्करा रहा था और उसकी आँखों से मद-सा झर रहा था। वीणा काँप उठी। कई बार काँपी फिर सस्मित-सी उठकर अन्दर चली गई। लगा, वह गिर पड़ेगी। उसने दीवार पकड़ ली। कई क्षण उस पर सिर टिकाये रही; फिर आप-ही-आप आगे बढ़ी, जैसे वीणा नहीं थी, कोई यंत्र था। आलमारी खोली। उसमें एक सन्दूकची रखी थी। उसी के नीचे के खाने में एक रूमाल था, जिसमें कुछ रुपये बँधे थे। उसमें से वीणा ने तीन रुपये लिये और बाहर आई। जैसे युग बीत गये थे। बिलकुल बदल गई थी। बोली, "मदन?"

मदन स्वयं चकित था "भाभी?"

"ले भइया ! जरा बाजार तो जाना। पास ही चाटवाले की दूकान है। एक रुपये की चाट अतुल को ले दे और सुजाता को भी ले जा। दूध मिलेगा, गरम या ठंडा, कैसा भी हो। सामक के चावल पड़े हैं, वे ही बना दूँगी और हाँ, एक दर्जन पक्के केले भी लिवा देना। न हो तो दे जाना। तुम्हें तकलीफ तो होगी।"

मदन था भी और नहीं भी। वह सुनने का नाटक कर रहा था और देख रहा था वीणा के मुख को। कुछ पल्ले नहीं पड़ा, पर दूसरी बार पूछने और मना करने का साहस ही उसमें नहीं था। उल्टे पैरों दौड़ा, अभी लाता हूँ।

नीचे उतर कर होश आया। पहले तो मन-ही-मन वीणा को एक मोटी-सी गाली दी। फिर लाना क्या है यह याद करने लगा, पर याद ने सरासर धोखा दिया। सौभाग्य से अतुल और सुजाता साथ थे और उन्हें सब कुछ याद था इसलिये कोई दिक्कत नहीं हुई। बाजार से सामान आया और वीणा ने सबके लिये खाना बनाया। मित्र लोग खाते जाते थे और प्रशंसा के पुल बाँधते जाते थे। स्वयं हेमेन्द्र को उस दिन की विविधता पर अचरज हुआ।

सब खा चुके तो वीणा ने दोनों बच्चों को अच्छी तरह खिलाया-पिलाया पर अपने लिये उसने कुछ भी बचाकर नहीं रखा। अतुल और सुजाता के सामने जब उसने अंतिम रोटी और रही-सही खीर परसी तो दोनों ने एक दूसरे को देखा। वीणा भभक उठी, "बुत बने क्यों बैठे हो? खाते क्यों नहीं! पहले ही बहुत मिलता है जो लिये बैठे हो। कब तक तुम्हारे लिये रुकी रहूँगी? अभी चौका उठाना है, बरतन माँजने हैं। जल्दी खाओ और खबरदार जो कुछ छोड़ा। राशन का जमाना है।"

दोनों बालक बोलने में असमर्थ जल्दी-जल्दी खाने लगे। खा चुके तो बैठक में पहुँचे। अतिथि लोग चले गये थे और हेमेन्द्र किसी समाचार पत्र के पन्ने उलट रहा था। उसने एक बार दृष्टि उठाकर दोनों बच्चों को देखा और पूछा "खा लिया भाई?"

दोनों ने एक साथ गरदन हिलाकर स्वीकृति दी। हेमेन्द्र ने फिर पूछा, "अच्छा लगा न?"

अतुल एकदम बोला, "पिताजी, अम्मा ने खाया ही नहीं।"

ताता ने शीघ्रता से समर्थन किया, "हाँ, मामा जी ! मामी के लिये कुछ नहीं बचा।"

"कुछ नहीं ?"

"हाँ !"

"क्यों ?"

"पता नहीं।"

तीनों ने एक-दूसरे को देखा। जानकर नहीं, अनजाने ही दृष्टि मिल गई। हेमेन्द्र एक बार तो उठाकर कोई पुस्तक पढ़ने लगा, पर कुछ देर बाद न जाने क्या हुआ ? पुस्तक बन्द करके अँगड़ाई ली और एक दृष्टि कमरे पर डाली। वहाँ एक मेज, एक कुरसी, दो आराम कुर्सियाँ, एक डैक्स, एक तख्त और एक चटाई का फर्श और आलों में कुछ किताबें, दीवार पर दो-तीन पारिवारिक चित्र थे। सब कुछ देखकर वह बाहर आया। देखा—वीणा रसोई के बाहर बरतन मल रही है। उसका आँचल गोदी में पड़ा है, बाल कुछ बिखरे से हैं। मुख पर गहरी वेदना के चिह्न हैं। कुछ अच्छा नहीं लगा। पास आकर पुकारा, "वीणा !"

"वीणा ने आँख झुका ली, "हाँ।"

"सुनो तो।"

"कहो भी।" स्वर में कर्कशता थी।

"तुमने कुछ नहीं खाया ?"

अब वीणा ने गरदन उठाई। उसी कर्कश स्वर में कहा, "तुम्हें क्या मतलब ?"

"मतलब तो कुछ नहीं पर पूछता था।"

वीणा उबल उठी, मतलब नहीं तो क्यों पूछते हो ? बड़े पूछने वाले बने हो, जैसे कोई समझे, बड़ा ध्यान रखते हैं घर का। कान खोलकर सुन लो, मैं जा रही हूँ।

हेमेन्द्र को लगा उसने यहाँ आकर गलती की, पर अब तो तीर कमान से छूट चुका था। मुस्करा कर बोला, "तुम तो वीणा, व्यर्थ ही इतनी तेज होती हो। अरे भाई, वे आ गये तो क्या मैं मना कर देता ? सब अपने-अपने भाग्य

का खाते हैं। दाने-दाने पर मोहर है। बेचारे तुम्हारी तारीफ करते नहीं अघाते थे।"

वीणा का मुँह तमतमा रहा था। तीव्रता से कहा, "मुझे नहीं चाहिए किसी की तारीफ! उसे आप बाँधकर अपने सिर लीजिए। मुझे क्यों तंग करते हो? मैं तो जा रही हूँ।"

हेमेन्द्र हँसा, "तुम्हारे बिना मुझे तारीफ मिलने वाली नहीं है!"

हँसी क्रोधरूपी अग्नि का घृत है। वीणा की क्रोधाग्नि भभक उठी, बोली—"मैंने कह दिया, मुझे कोई मतलब नहीं। क्यों मुझे जलाने आये हो? मैं अब नहीं रहूँगी, मेरा तुम्हारा निभाव नहीं हो सकता।"

"कहाँ जाओगी?"

"कहीं भी जाऊँ।"

"पर मैं जानूँ तो सही।"

"तुम्हें क्या पड़ी है। तुम चले जाओ नहीं तो अभी मैं कूद पड़ूँगी।"

"कूद पड़ोगी सो कूद पड़ो। तुम तो हमेशा ऐसी धमकियाँ देती रहती हो।"

"क्या कहा? मैं धमकी देती हूँ। अच्छी बात है। देख लेना इस क्षण के बाद इस घर का एक बूँद पानी पिऊँ तो वीणा न कहना।"

हेमेन्द्र ने अब वहाँ से हट जाने में ही कल्याण समझा। चुपचाप अपने तख्त पर जा बैठा। वीणा उसी आवेश में अन्दर जाकर अपनी चीज बटोरने लगी। वह रह-रह कर अस्फुट स्वर में बड़बड़ा उठती थी, "आज मुझे चली जाना है। चाहे मुझे धर्मशाला में जाकर रहना पड़े; पर अब इस घर में नहीं रहूँगी। कोई बात है, मुझे न जाने क्या समझ लिया है? नौकरानी भी अच्छी होती है।"

आँखों में आँसू भर आये पर उन्हें पोंछा नहीं। उसी तरह बड़बड़ाती रही—"न जाने मैंने क्या पाप किये थे जो इस नरक में पड़ना पड़ा। हर वक्त बात हर वक्त बात, जब देखो तब बात! जैसे बातें ही धरती को स्वर्ग बना देंगी। मिट्टी के माधो न काम के न धाम के, बस हुकूमत चलवा लो। भगवान ने तनिक बुद्धि दे दी है, नहीं कोई पूछता भी नहीं। कोई कमी थी मुझे? ऐसे-ऐसे......"

फिर सहसा मदन का ध्यान आया—गठीला वदन, रक्तिम वर्ण; विशाल वक्षस्थल, आजान बाहु. मदिर नयन।

जैसे तूफान में पत्ता कांप उठता है, ऐसी ही हालत वीणा की हुई। सब कुछ शून्य हो गया और फिर उस शून्य में अतुल की मूरत उभरने लगी। आँखों में अश्रु का वेग बढ़ चला। सिहर कर फुसफुसाई, "अतुल मेरा है, मेरे साथ रहेगा। ताता अपने घर जायेगी।"

बहुत देर तक इस तरह सोच-सोचकर वह बाहर निकली। उसका मुख डूबते सूरज की लाली जैसा लग रहा था। आँखें वीरबहूटी बन रही थीं और शरीर जैसे झुलस गया था। वह सीधी बैठक में पहुँचने ही वाली थी कि कानों में कुछ शब्द पड़े, ठिठक गई, स्वर नारी का था। वह कह रही थी, "ऐसी हालत में क्या मुझे उसके पास रहना चाहिये ?"

जवाब हेमेन्द्र ने दिया। वही शान्त और गम्भीर स्वर, "यह तो आपके निश्चय करने की बात है। मेरा इससे कोई सम्बन्ध नहीं है।"

"मैंने निश्चय कर लिया है, मैं अब उसके साथ नहीं रहूँगी। मैं कल ही आपके पास आ जाऊँगी।"

"मेरे पास ? आपका मतलब मेरे घर ?"

"मैं घर-बर कुछ नहीं जानती। मैं आपको जानती हूँ।"

"पर मैं तो कुछ नहीं हूँ जो कुछ है घर है।"

"कुछ भी हो।"

"कुछ भी कैसे ? उसमें अन्तर है। मैं कुछ नही हूँ, घर है और घर से मतलब है वीणा; सो मेरे पास आओगी तो वीणा से कह दूँगा कि वह तुम्हारा प्रबन्ध कर दे। वीणा के बिना मैं कुछ नहीं हूँ।"

वीणा ने सब कुछ समझा। उस औरत को पहचाना। वह अकसर आया करती थी। सब कुछ समझ गयी। जैसे एक बार तूफान आया, भूकम्प ने सब कुछ उलट-पलट दिया। वीणा जान बचाकर अन्दर भागी, पर भूकम्प से क्या कोई बचता है ? हतभागिनी-सी वह वहाँ अपनी गठरियों, अपने दोनों बेखबर सोते हुए बच्चों के पास फर्श पर गिर पड़ी और फफक-फफक कर रो उठी—"ओह। मैं इतनी कायर क्यों हुई ? ओह ! मैं क्या करने जा रही थी ?"